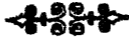


# उत्सर्ग



लेखिका

श्रीमती तारापांडे



भूमिका लेखक

उपन्यास सम्राट स्वर्गीय

प्रेमचन्द्र जी



प्रकाशक

विद्याभास्कर बुकडिपो

चौक, बनारस सिटी ।



जुलाई १९३७



प्रकाशक  
धीरेन्द्रचन्द्र वीरेन्द्रचन्द्र  
विद्याभास्कर बुकडिपो  
बनारस सिटी ।

सब प्रकार की साहित्यिक तथा परीक्षोपयोगी  
पुस्तको का एक मात्र पता विद्याभास्कर  
बुकडिपो बनारस को याद रखिए ।

प्रथम बार

मूल्य १।=)

मुद्रक  
श्रीनाथदास अग्रवाल,  
टाइम-टेबुल प्रेस.  
बनारस सिटी ।





श्रीमती तारा पाण्डे के पूज्य पिता  
स्वर्गीय पं० मनमोहन जोशी

# श्रद्धाञ्जलि



वात्सल्य की साक्षात्प्रति मूर्ति

पूज्यपाद

पितृ-चरणों

की

पुराय-स्मृति

में



## निवेदन

आज से ढाई वर्ष पूर्व मैं अपनी बहिन की रचनाओं का प्रथम संग्रह “सीकर” के रूप में लेकर धड़कते हुए हृदय से पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुआ था, तब मुझे स्वप्न में भी इस बात की संभावना नहीं दिखाई देती थी कि ‘सीकर’ के दूसरे संस्करण की भी नौबत आयगी। सचमुच हिन्दी साहित्य के उत्तमोत्तम काव्य-ग्रंथ भी वर्षों तक यो ही प्रकाशक की अलमारी की शोभा बढ़ाते हैं, अथवा अपने पार्थिव शरीर को दीमकों की क्षुधा-चृप्ति के लिये समर्पण कर पुण्य का अर्जन करते हैं। अतएव दो वर्ष के भीतर ही ‘सीकर’ के प्रथम संस्करण का अप्राप्य हो जाना इस बात की पुष्टि करता है कि अब हिन्दी के पाठकों में गुण ग्राहिता का भाव बढ़ रहा है। विद्वानों ने अपनी अमूल्य सम्तियों द्वारा मेरी बहिन के बालप्रयास को जो प्रोत्साहन दिया उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। उन्हीं के प्रोत्साहन का परिणाम है कि अभी हाल ही में बहिन की कविताओं का दूसरा संग्रह “शुक-पिक” नाम से ‘विशाल भारत’ कार्यालय से प्रकाशित हो चुका है। आशा है कि सहृदय विद्वद्बृन्द इस बाल-चापल्य को और कुछ नहीं तो विनोद-सामग्री की दृष्टि से अवश्य ही देखेंगे।

बहिन के भावुक हृदय को कविता के सीमित क्षेत्र में अपनी भावना के प्रकाश की पर्याप्त समाई न दिखाई दी। इस कथा-शुग में कहानों से बढ़कर भला और कौन उपयुक्त क्षेत्र हो सकता था जिसमें वह निर्बाध रूप से अपने हृदय को खोलकर रखती। फलतः वह समय-समय पर कहानियाँ भी लिखती गईं। प्रायः सभी साहित्यिक पत्रिकाओं ने उन कहानियों को प्रकाशित करने योग्य समझा। हिन्दी साहित्य के अमर कहानी लेखक स्व० मुंशी प्रेमचन्द जी ने न केवल उसकी कहानियों को अपने पत्र हंस में प्रकाशित किया बल्कि समय-समय पर अपनी अपूर्व सम्मतियों से उसे उत्साहित भी किया।



आज मैं उन्हीं कहानियों के संग्रह को लेकर पाठको के सम्मुख उपस्थित हो रहा हूँ। मैं यह जानता हूँ कि कहानी लिखने का उसका यह प्रथम प्रयास है। त्रुटियाँ इसमें अनेक होंगी। कहानियाँ भी सभी उच्चकोटि की नहीं कही जा सकती। फिर भी 'सीकर' की सफलता से उत्साहित होकर मेरा दिल दूना होगया है। इनमें से दो एक को छोड़ कर प्रायः सभी कहानियाँ पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं। फिर अमर कथा-लेखक स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्द जी के अशीर्वाद की छाप इस पर मौजूद है। मुझे विश्वास है कि सहृदय पाठक उदार दृष्टि से इनको पढ़कर आनन्द लाभ करेंगे और त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर तारा की इन कहानियों को भी अपनावेगे।

एक बात इसके नाम-करण के संबन्ध में भी। "उत्सर्ग" प्रस्तुत संग्रह की एक कहानी है। परन्तु इस संग्रह का नाम "उत्सर्ग" इसलिये नहीं रखा गया है कि यह सर्वश्रेष्ठ कहानी है। तारा की प्रत्येक कहानी में उत्सर्ग की भावना व्यापक है। इन कहानियों में स्त्री जाति ने ममतामयी माँ के रूप में, प्रेममयी पत्नी के रूप में और स्नेहमयी बहिन के रूप में सर्वत्र पुरुष जातिके लिये अपने को उत्सर्ग कर दिया है। इसी उत्सर्ग की प्रमुख भावना को केन्द्र मान कर इस संग्रह का नाम "उत्सर्ग" रखा गया है।

बस, इससे अधिक कहने का मुझे कुछ भी अधिकार नहीं। भला बुरा जैसा भी है पाठको के सम्मुख है। इसका निर्णय भी या तो पाठक ही कर सकते हैं या समय स्वयं करेगा। वैसे अपनी चीज को कौन अच्छा नहीं कहता।

साँवसरी १, संवत् १९९४ वि०

किशोरी-रमण कौलेज, मथुरा

}

मोहनवल्लभ पंत

उत्सर्ग



( १ )



वाणोन्मुखी वृद्धा ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा,  
“ पानी ” ।

पास ही बैठी हुई कन्या ने माता के मुँह में  
धानी डालते हुए पूछा, “ माँ, अब कैसा जी है ? ”

एक शुष्क मुसकान माता के चेहरे पर दौड़ गई । पानी पी  
चुकने पर कुछ स्वस्थ सी होकर रोगिणी बोली, “ सोना, प्रकाश  
की चिट्ठी आई थी क्या ? कब आवेगा ? ”

“ कल प्रातः काल ही भैया यहाँ पहुँच जायँगे माँ, चिट्ठी  
आई है । ”

“ कल प्रातः काल ? ”

तीन

“हाँ, माँ, कल ही आवेंगे।”

“तब तो अभी कुछ देर है।”

“नहीं माँ कुछ देर नहीं है।”

“परन्तु मौत तो किसी की सुविधा नहीं देखती बेटी।”

“क्यों ऐसी बातें करती हो अम्मा ?”

रोगिणी ने फिर आँखें बन्द कर लीं। सोना की आँखों से आँसू टपकने लगे। यही मानो माता की आँखें न देख सकी। वे सोचने लगीं, “मेरे बाद ..... मेरे बाद इस लड़की को कौन सँभालेगा ? प्रकाश क्या मेरी तरह इसे प्यार करेगा ? क्यों न करेगा ? आखिर दोनों ही तो मेरे पेट की सन्तानें हैं। पर हाय, अभागिनी सोना।” रोगिणी अचेत हो गई।

## ( २ )

रात भर जगी रहने के कारण सोना को सुबह की ठंडी हवा लगने से कुछ झपकी सी आने लगी। सहसा किसी के पैरों की आहट पाकर वह चौंक पड़ी। देखा सामने ही प्रकाश खड़े एक टुक माँ को निहार रहे हैं। आँखों में पानी डबडबा रहा है। सोना कुछ सहारा पाकर रो पड़ी।

प्रकाश ने घुटनों के बल बैठकर माँ को प्रणाम किया। रोती हुई बहिन को हृदय से लगाकर वे स्वयं भी रो पड़े।

“कौन ? प्रकाश ? ” माँ ने पूछा ।

“माँ .....” प्रकाश रोते हुए बोले ।

“तू आगया बेदा । अच्छा किया । ”

“.....”

“छिः प्रकाश, इस तरह कैसे काम चलेगा ? तुझसे मुझे कुछ कहना है । सुन । ”

जैसे-तैसे आँसू पोछकर प्रकाश माँ के सामने ही बैठ गए । सोना की तरफ देखकर माँ ने कहा, “सोना, भाई के लिये कुछ जलपान ला । जाने कब से भूखा है । ”

सोना के जाने पर माता ने आँखे बन्द कर ली । ऐसा मालूम होता था कि वे कुछ सोच रही है । थोड़ी देर बाद पुकारा,

“प्रकाश ! ”

“माँ ! ”

“बेटा, आज तेरे ही हाथों में सोना को—तेरी बहिन को—सौंपे जा रही हूँ । जब तेरे पिता की मृत्यु हुई थी तब उन्होंने मुझसे यही कहा था कि दो बच्चे तुम्हें संपो रहा हूँ । मैंने जहाँ तक हो सका तुम्हें योग्य बनाया, सोना का व्याह किया, किन्तु सोना का भाग्य अच्छा नहीं निकला, सब कुछ होते हुए भी सोना के पति ने उसे त्याग दिया । आज सोना की उम्र बहुत छोटी है प्रकाश—कुल १६ वर्ष की, किन्तु उसे दुःख-सुख का ज्ञान हो चुका है । वह अपनी दशा जानती है । देखता नहीं प्रकाश, उसके मुँह पर कैसी वेदना छाई रहती है । आज तक उसे मेरा



हो गई थी। वह अपने आप को शहर में अधिक सुखी समझता था। प्रकाश ने सोना से भी चलने को कहा, पर वह राजी न हुई। उसे अपना गाँव प्यारा था।

आखिर प्रकाश एक दिन सोना से बिदा होकर चल दिया। सोना ने आँखों में आँसू भर कर भाई को बिदा किया। अब उसे बहुत ही बुरा लगता था। फिर भी वह साहस कर काम में लग गई। थोड़ी बहुत खेती-बारी भी थी। उसी में वह अपनी गुजर करने लगी। परन्तु यह सूना जीवन उसे पसन्द नहीं आया। उसने सोचा अगर भैया विवाह कर लें तो अच्छा होता। यही सोचकर उसने प्रकाश को चिट्ठी लिखने का निश्चय किया। प्रकाश को गए हुए कई महीने बीत गए थे। सोना सोचने लगी कि क्या बहाना करूँ ? आखिर उसने अपनी बीमारी का बहाना लिखकर पत्र डाक में छोड़ दिया और भाई के आने की राह देखने लगी।

( ४ )

घर में पैर रखते ही प्रकाश ने देखा कि सोना बुहारी लगा रही है। भैया को देखते ही वह दौड़ कर प्रणाम करने आई। आश्चर्य से प्रकाश ने पूछा, “कैसी हो सोना ? क्यों घर का काम कर रही हो ?”

“मैं काम न करूँ तो कौन करेगा भैया ?”



“जब तक जी खराब था किसी से करवा लिया होता।”

अब के सोना कुछ मुसकराई।

“मैंने झूठ लिखा था भैया,” सोना ने आँखें नीची कर कहा।

“झूठ!” आश्चर्य से प्रकाश ने पूछा।

“हाँ भैया, मैं बीमार नहीं हुई थी, तुम्हारे बुलाने का बहाना था। पर तुमसे मुझे जरूरी काम है। बैठो। कुछ जलपान करो।” कहते हुए सोना चली गई। प्रकाश बैठ गए। कुछ ही देर में थोड़े से फल और पानी का गिलास लिये हुए सोना आई। प्रकाश ने फल खाये और पानी पिया। थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे फिर सोना ने पूछा।

“मैंने तुम्हें क्यों बुलाया है, जानते हो?”

“नहीं, यही तो जानना चाहता हूँ,” उत्सुकता से प्रकाश ने कहा।

“मानोगे?”

“यथाशक्ति।”

“अपना विवाह कर लो।”

“विवाह!”

“हाँ भैया।”

“नहीं।”

“नहीं!”

“भूलकर भी न करूँगा सोना,” व्याकुल होकर प्रकाश ने कहा।

“क्यों ?” संक्षेप में सोना ने पूछा ।

“तुम्हें विवाह करके क्या सुख मिला ?”

“मेरी बात छोड़ दो,” लज्जा से सोना ने सिर नीचाकर लिया ।

“तुम्हारी बात छोड़ दूँ बहिन ? तुम्हारे इस दुःखी जीवन को देखते हुए मैं अपना विवाह करूँ ? तुम्हारी सूनी दुनियाँ देखकर मैं अपना घर बसाऊँ ? छिः सोना, अब तुम मुझसे कभी न कहना कि विवाह कर लो ।”

“तब मैं अकेली ही रहूँगी ?”

“अकेली क्यों ! क्या मैं नहीं हूँ ?”

“तुम तो अपने काम में चले जाओगे ।”

“अगर तुम कहो तो मैं कहीं नहीं जाऊँगा ।”

“विवाह न करोगे ?”

“नहीं ।”

“निश्चय है ?”

“निश्चय ! अब भी पूछती हो निश्चय ! तुम्हारे सामने कह रहा हूँ सोना, मैं तुमसे अधिक प्यार किसी को नहीं करता । मेरे लिये संसार मे तुम्हीं हो । तुमसे मैं भूठ नहीं कह सकता । माँ ने मुझे तुम्हारी रक्षा करने के लिये कहा था । उसे मैं भूला नहीं हूँ और जब तक रहूँगा तुम्हारे लिये सब कुछ करूँगा । पर तुम्हें भी मेरी बात माननी पड़ेगी बहिन । तुम मुझसे विवाह के लिये जोर न करो । मैंने विवाह कर लिया तो क्या तुम कह सकती हो कि पराई लड़की तुम्हारे प्रति मेरा यह अखंड स्नेह देख सकेगी ?

और मैं भी तो मनुष्य—एक दहुत ही तुच्छ मनुष्य—हूँ। सम्भव है कि फिर उस नये जीवन में मैं तुम्हें भूल जाऊँ अथवा तुम्हारे प्रति यह स्नेह न रख सकूँ। तब तुम्हारी क्या दशा होगी ? और माँ की आत्मा मुझे क्या कहेगी ? सोचो तो ?”

भैया के विचार सुनकर सोना की आँखों में आँसू भर आए। वह चुपचाप उठ गई। एक सप्ताह तक फिर दोनों में इस विषय पर कुछ बातें न हुईं।

( ५ )

एक सप्ताह समाप्त होने पर प्रकाश ने जाने की तैयारी की। सहसा सोना ने सामने आकर कहा।

“ पहिले मुझे बिदा कर दो भैया। ”

“ तुम्हे बिदा कर दूँ ? कहाँ ? ” आश्चर्य से प्रकाश बोल उठा।

“ ससुराल, ” लज्जा से सोना बोली।

“ ससुराल ? ”

“ हाँ भैया। ”

“ क्यों ? ”

“ क्योंकि यहाँ रहने से समाज उँगली उठाता है। ”

“ पर तुम्हारी ससुराल के लोग तो तुम्हे नहीं चाहते सोना। ”

“ जानती हूँ। ”

“ फिर भी जाओगी ? ”

“ कह चुकी हूँ भाई, ” यह कह कर वह तेजी से भीतर चली गई ।

प्रकाश ने एक ठंडी साँस ली, और ऊपर की ओर मुँह करके मन ही मन कहा, “ माँ मुझे क्षमा करो । सोना अपने ही मन से मुझे छोड़ रही है । मैं यथाशक्ति अब भी उसकी मदद करता रहूँगा । क्षमा करना माँ । ”

उस दिन प्रकाश का जाना रुक गया ।

अगले दिन सोना ने प्रकाश के साथ ससुराल के लिये प्रस्थान किया । उसका हृदय वेग से धड़क रहा था । मन में तरह तरह की कल्पना करती हुई वह बढ़ी जा रही थी, अचिराम गति से । वहाँ उसने केवल ‘सुहाग रात’ बिताई थी । धुँधली सी याद है । वस, फिर उसने कभी भी ससुराल नहीं देखी । पीछे ही पीछे उसने सुना था कि उसके पति ने विवाह कर लिया । उस दिन उसकी माँ रोई थी । क्षण भर के लिये सोना काँप उठी, सैत !

दरवाजे पर पैर रखते ही सास से सोना की भेंट हुई । प्रणाम करके वह अन्दर चली गई । सास आश्चर्य से देखने लगी । फिर क्रोध से आँखें लाल हो उठी । सामने प्रकाश को देखते ही चिल्ला पड़ी, “ले जाओ अपनी बहिन को । बिना बुलाये इस तरह पहुँचा जाना ! क्या तुम्हें शर्म नहीं मालूम हुई ? मालूम पड़ता है दोष को हमारे शिर डालना चाहते हो, क्यों ? अभी इसी घड़ी चले जाओ । .....” और कुछ कहने को थी कि

सोना विजली की तरह दौड़ कर आई और बोली, “अम्मा, मैं अपने मन से आई हूँ। जो कहना है मुझे कहो।”

प्रकाश इस प्रकार अपमानित होकर उलटे पाँव लौट पड़े। उन्हें अपनी तो कुछ चिन्ता न हुई पर सोना की चिन्ता उनके हृदय को मसोसने लगी। हाय! वह इतना भी न कह पाए कि ‘सोना अच्छी तरह रहना।’

( ६ )

सोना की सौत को जब यह मालूम हुआ कि यह नई स्त्री और कोई नहीं उसकी सौत है, तब वह क्रोध से कॉप उठी। सास और पति के सामने जाकर बोली,

“तुम लोगों ने मेरे माँ बाप को धोखा देकर विवाह किया। तुम लोगों ने कहा था कि ‘उसे’ कभी नहीं बुलाओगे। अब देखती हूँ वह सामने खड़ी है।”

सास ने विश्वास दिलाते हुए कहा,

“नहीं बहू, उसे हमने नहीं बुलाया। वह आपही आ गई है।”

पर रमा को किसी तरह यकीन न हुआ। पति की तरफ क्रोध और प्रश्न भरी आँखों से देखा। श्यामकुमार चुपचाप भीतर चले गये।

सोना ने आँखों में आँसू भरकर रमा से कहा, “ बहिन, मैं तुम्हारा अधिकार छीनने के लिये नहीं आई हूँ । मैं तो केवल तुम लोगो की सेवा करने आई हूँ । सेवा का अधिकार तो मेरा भी है बहिन, क्यो व्यर्थ नाराज होती हो । मैं अपने ही मन से यहाँ आई हूँ । भाई की स्नेह-झाया छोड़कर तुम लोगो का कोप सहने आई हूँ । उत्सर्ग की भावना लिये आई हूँ । भाई ने मेरे लिये जीवन उत्सर्ग कर दिया है । मैं तुम लोगो के लिये अपने आप को उत्सर्ग करना चाहती हूँ । बोलो, क्षमा करोगी ? तुम्हे विश्वास दिलाती हूँ कि मैं घर मे केवल दासी के रूप मे रहूँगी । मैं अगर चाहती तो बड़े सुख से अपने भाई के पास रह सकती थी । परन्तु ‘सुख’ मैं नहीं चाहती । इस नैराश्यमय जीवन मे सुख बटोर कर क्या करूँगी ? ”

सोना की बातो का उत्तर दिये बिना ही रमा वहाँ से चल पड़ी ।

दासी का काम करने पर भी सोना को चैन न मिला । उससे कोई भी अच्छी तरह नहीं बोलता था । अधिक परिश्रम से तथा दुःख से सोना दिन-दिन घुलने लगी, पर उसे इसकी कुछ भी चिन्ता न थी । किन्तु धीरे-धीरे उसका बल भी घटने लगा । बड़े कष्ट से वह काम काज कर पाती थी । कुछ दिनों बाद वह एक दम अशक्त हो गई । खाने को मिल गया तो खा लिया नहीं तो चुपचाप पड़ी अपने अतीत, वर्तमान तथा भविष्य पर चिन्ता करती । भाई, आह ! अगर वह भाई के पास लौट जाती तो ..... । पर कैसे लौटे, जब से यहाँ आई है तब से कुछ भी तो भाई की

तेरह

खबर नहीं मिली । न जाने कैसे होंगे ? परदेश में अकेले । सोचते सोचते सोना आशंका से व्याकुल होकर भगवान से प्रार्थना करने लगती और दो बड़े बड़े आँसू उसकी आँखों से निकल कर कपोलों पर ढुलक पड़ते ।

( ७ )

एक दिन दोदहर के समय प्रकाश को एक पत्र मिला । लिखावट पहिचानी । पत्र सोना का था । खोलकर पढ़ने लगा—  
मेरे भैया,

जब से तुम गए और मैं यहाँ आई तब से मुझे तुम्हारी कुशल नहीं मिली । आज मैं कष्ट में हूँ भाई । बड़े ही कष्ट से तुम्हें लिख रही हूँ । पढ़कर तुम्हें दुःख होगा । परन्तु क्या करूँ लाचार हूँ । तुम्हें न लिखूँ तो लिखूँ ही किसे ? तुम मेरे भाई हो, सहोदर हो, तुम्हें मेरी मसृदा है, अतएव स्वार्थ से ही प्रेरित होकर यह पत्र तुम्हें भेजा है । जितना शीघ्र हो सके—अपमान भूलकर—मेरे पास चले आओ । फिर शायद इस जीवन में न मिल सकोगे भैया । आओगे क्या ?

बस !

तुम्हारी ही बहिन  
सोना—

पत्र पढ़ चुकने पर प्रकाश अधीर हो उठा—“सोना ।” मन ही मन बड़ बड़ाने लगा, ‘फिर शायद इस जीवन में न मिल सकोगे’ “हूँ, अच्छा आज ही जाता हूँ ।”

( ८ )

प्रकाश जब सोना के घर आँगन में पहुँचा तो उसे कोई नहीं मिला । वह चुपचाप घर के भीतर घुस गया । वह इरादा करके आया था कि सोना को इसी क्षण लिवा ले जाऊँगा । देखा श्यामकुमार कुछ सोच रहे हैं । कमरे में और कोई नहीं था । खड़ना ही पड़ा—“सोना कहाँ है ?”

उँगली से इशारा करके श्यामकुमार ने बता दिया । प्रकाश झुकता से उस अंधेरी कोठरी की ओर दौड़ा । जमीन पर थोड़ी सी पुआल के ऊपर कुछ चीथड़े बिछे थे । मालूम नहीं होता था कि वहाँ कोई है अथवा नहीं । प्रकाश ने धीरे-धीरे पास आकर ढटोला शीतल हाथ सोना के माथे पर लगा । एक क्षण अस्पष्ट ‘आह’ कमरे में विलीन हो गई ।

“कौन ?” सोना ने क्षीण स्वर से पूछा ।

“मैं हूँ सोना,” प्रकाश ने भरे गले से उत्तर दिया ।

“भैया ।”

“सोना !”



“ बड़ी देर से आए । ”

“ तुमने खबर ही नहीं भेजी बहिन, देर से तुम्हारी चिट्ठी मिली । उसी दम चला आया । बोलो मेरे साथ चलोगी ? ”

“ अब कैसे चलूँ ? ”

“ मैं ले चलूँगा । ”

“ ना । ”

“ अब भी हट करती हो ? ”

सोना मुसकराई । वह मुसकान उसके चेहरे को एक बार उज्ज्वल बनाकर लुप्त हो गई ।

“ सोना ”, प्रकाश ने कहा ।

“ भैया । ”

“ क्या चाहती हो बहिन ? ”

“ एक बार ‘ उन्हें ’ बुला सकते हो ? ”

प्रकाश के दिल में चोट लगी इतनी दूर से आया हूँ फिर भी मुझसे कुछ न कह कर उसी के लिये मरी जाती है । वह नर पिशाच रोज ही तो घर में रहता है । छि !

“ चुप क्यों हो गए भैया ? ” सोना ने फिर पूछा ।

चुप ..... हाँ ..... ना ..... कुछ भी तो नहीं । “ सोच रहा था कि श्यामकुमार से क्या कहूँ, ” बात बना कर प्रकाश बोला ।

“ क्यों, यही कहना कि सोना मर रही है । एक बार देखना चाहती है, ” सोना ने दृढ़ स्वर में बताया ।

× × × ×

सोना की कोठरी में चन्द्रमा का प्रकाश फैल रहा था। धीरे से द्वार खुला।

प्रकाश और श्यामकुमार ने भीतर प्रवेश किया। सोना ने आँखें खोल दीं। उसके दोनों हाथ अभियादन के लिये उठे; मगर तुरन्त ही शिथिल होकर रह गए। जिस प्रकार बुझने से पहले दीपक का प्रकाश उज्ज्वल हो उठता है, उसी प्रकार सोना के मुख पर उज्ज्वल आभा व्याप्त हो उठी। मुँह पर एक हलकी-सी मुसकान खेल गई और फिर शीघ्र ही जीवन की लीला समाप्त हो गई।

प्रकाश ने एक बार सोना की ठंडी देह का स्पर्श किया। वह काँप उठा। ओह! मृत्यु! कितनी शीतल; पर कितनी भयानक! प्रकाश ने सोना का शीतल माथा चूम लिया। मृत्यु की शीतलता ने जैसे प्रकाश के होठों को भी शीतल कर दिया। तब दो बड़े-बड़े आँसू प्रकाश की आँखों से सोना के वक्षस्थल पर गिर पड़े।

उस समय रजनी का तीसरा पहर समाप्त हो चुका था। प्रकाश ने आँगन में आकर देखा—आसमान में तारे टिमटिमा रहे हैं। उसने दोनों हाथों को ऊपर उठाकर कहा—“माँ, मैं सोना के प्रति अपना कर्तव्य निभा सका या नहीं, इसे तुम्हीं जानना। आज सोना तुम्हारे ही पास लौट गई है माँ।” और तब उस अन्धकार में एक ओर को चल पड़ा।

× × × ×

तब से फिर किसी ने भी प्रकाश को गाँव में नहीं देखा और  
शायद वह फिर गाँव में आया भी नहीं ।

नैनीताल }  
अप्रैल, १९३४ }



राखीवन्दु भार्गव





स दिन रत्नावन्धन का त्योहार था । सभी भाई-बहन खुशी में मस्त थे । बहनें भाइयों के हाथ में राखी बाँधती थीं और प्रसन्न होती थीं , परन्तु नैना के अपना कोई सगा भाई नहीं था, इसी से वह कुछ उदास-सी होकर माँ से पूछ रही थी कि वह किसके हाथ में राखी बाँधे ?

माँ ने आँखों में आँसू भरकर कहा—बेटी, मैं क्या कहूँ, तेरी तकदीर ही गेमी निकली, आज अगर तेरा भाई जीता होता, जो तुमसे दो वर्ष बड़ा था, तो काहे की चिन्ता थी ।

नैना की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे । रोगिणी माता कन्या का दुःख न देख सकी । आँसू पोंछते हुए स्वयं भी रोकर

बोली—बेटी, रोने से क्या होगा, जाकर ठाकुरजी की पूजा कर और उन्हीं के हाथों में राखी बाँध दे। उन्होंने ही तुझे भाई नहीं दिया। उन्हीं से प्रार्थना कर, वे ही तेरे भाई बन जायेंगे। विश्वास रखना बेटी, ईश्वर बड़ा दयालु है।

नैना चुपचाप वहाँ से चली गई। पूजा के घर में जाकर माता की आज्ञा का पालन करने लगी। पूजा तो कर ली; परन्तु राखी बाँधने को उसका जी न हुआ। थाल सजाकर वह खिड़की के सामने बैठ गई और अश्रुपूर्ण नेत्रों से बाहर की ओर देखने लगी। कुछ देर बाद उसने देखा—पड़ोस में रहनेवाला विद्यार्थी नरेन्द्र-कुमार धीरे-धीरे टहल रहा है। नैना का हृदय धड़कने लगा। अब तक वह नरेन्द्र को जानती थी; लेकिन बोली नहीं थी। साहस करके पुकारा—भाई।

सहसा कोमल और स्नेहमय स्वर सुनकर नरेन्द्र ने ऊपर देखा। अश्रुपूर्ण नेत्रों से नैना पुकार रही थी—भैया।

“वहन।”—कहकर नरेन्द्र ऊपर चला आया। सकुचाकर नैना ने बैठने को आसन दिया। नरेन्द्र मन्त्रमुग्ध की भाँति बैठ गया। नैना नरेन्द्र के माथे पर तिलक लगाकर राखी उसके हाथ में बाँधने लगी और गद्गद् कंठ से बोली—भैया। राखी की लाज रखना।—इसके आगे वह और भी कुछ कहना चाहती थी; परन्तु कंठ अवरुद्ध हो गया। आँखों के आँसू नरेन्द्र के हाथ की राखी पर टपक पड़े।

रक्षाबन्धन हो गया। नरेन्द्र ने विश्वास के स्वर में कहा—

बहन, मेरे भी कोई बहन नहीं थी; अतः आज से तुम मेरी बहन हो। सदा यही भाव रखकर स्नेह करना। ईश्वर सभी का रक्षक है। —यह कहकर नरेन्द्र बिदा हुआ। नैना ने संतोष की साँस ली और माँ के पास जाकर बैठ गई।

“ ठाकुरजी को राखी बाँध आई बेटी ? ”—माँ ने पूछा।

“ नहीं। ”—संक्षेप में नैना ने उत्तर दिया।

“ नहीं। क्यों नहीं बाँध आई ? भूखी कब तक रहेगी ? ”

“ माँ। मैंने नरेन्द्र भैया के हाथ में राखी बाँध दी है। ” —यह कहकर नैना ने सारी बातें माँ को सुना दी।

स्नेह से बेटी को छाती से लगाकर माता रो पड़ी।

## ( २ )

पिता तो कभी के प्रस्थान कर चुके थे। बहुत दिन तक रोगिणी रहने के बाद माता ने भी पिता का अनुसरण किया। नैना के लिये संसार शून्य हो गया। श्राद्धादि करने को रिश्ते के एक चाचा देवीप्रसाद आए थे। नैना ने उनका ही आश्रय ग्रहण किया। उन्हीं के साथ वह चलने को उद्यत हो गई। असहाय नैना इसके अतिरिक्त और कर ही क्या सकती थी। चाचा के घर आकर नैना ने पहले तो यथेष्ट आदर पाया; परन्तु कुछ ही महीनों में चाची गंगा का रुख बदल गया। उनके लिये नैना भार-सी हो गई।



अब नैना के ऊपर काम का बोझ भी अधिक पड़ने लगा और तानो का भी । नैना सब चुपचाप सहती थी, अकेले में रो लेती थी । पराधीनता में कहीं शान्ति मिलती है ?

इस दुःखमय जीवन में भी उसे एक छोटा-सा सहारा था, जिस पर वह पूर्ण विश्वास कर सकती थी । उसी के ध्यान में वह अपने आपको भूली रहती थी । वह था त्रिपुरा को पढ़ाने वाला मास्टर किरणकुमार ।

देवीप्रसाद के दो कन्याएँ थी ; त्रिपुरा और इन्दु ।

त्रिपुरा की आयु १४ वर्ष की थी, और नैना उससे दो वर्ष बड़ी । त्रिपुरा अपने माता-पिता की पहली सन्तान थी । उसके बाद कई भाई-बहन हुए और मर गए । इन्दु अभी केवल तीन ही वर्ष की थी । इन्दु नैना से बहुत हिल-मिल गई थी ।

( ३ )

नैना ने कब से और कैसे किरणकुमार को अपना हिस्सेधी समझ लिया, क्यों वह अपने हृदय में उसे स्थान दे बैठी, यह वह स्वयं न जान सकी । वह इतना ही जानती थी कि किरणकुमार उससे सहानुभूति रखता है । और ? और शायद प्यार भी. . . . . ! किन्तु, प्रेमी-प्रेमिका की तरह वे दोनों कभी नहीं मिले थे । न इस प्रकार की कोई बातें ही उन्होंने की थी ।

जब गंगादेवी नैना को त्रिपुरा की पढ़ाई के समय वहाँ ( त्रिपुरा के पास ) देख लेतीं, तो आग होकर कहतीं—क्या बैठे-बैठे काम चल जायगा ? खबर है कितने बज गए ? रात को खाना बनेगा या नहीं ? त्रिपू को पढ़ने देगी या नहीं ? इन्दु के कपड़े आज बदले नहीं गए । कितने मैल हो गए हैं । पर यहाँ तो रानी बनी बैठी है । काम जाय भाड़ में, धला से कोई मरे या जिये । मेरी कमर में तो ऐसा दरद है कि राम जाने कैसे उठ रही हूँ ।

नैना चुपचाप उठकर चली जाती ; पर जाते-जाते वह मास्टर साहब की ओर देखना न भूलती थी । देखती थी कि मास्टर साहब का मुँह उदास हो गया है और कभी सुनती थी कि मास्टर साहब उसकी ओर से पैरवी कर रहे हैं । गंगादेवी इससे जल-भुनकर खाक हो जाती थी । वे नहीं चाहती थी कि कोई भी उस छोकरी के प्रति समवेदना प्रकट करे, या उसके गुणों की प्रशंसा करे ।

किन्तु ज्यों-ज्यों गंगा नैना के प्रति क्रोध बढ़ाती जा रही थी त्यों-त्यों किरणकुमार नैना की ओर अधिकाधिक खिंच रहे थे । नैना भी किरण को अपना ही समझने लगी ।

एक दिन नैना अकेली बैठी हुई आँसू बहा रही थी कि अचानक किरणकुमार को आया देखकर वह लजा गई ; पर किरण ने सब कुछ समझ लिया , और भी पास आकर पूछा—रोती क्यों हो नैना ?

रुनह-सूचक प्रश्न सुनकर नैना का गला और भी भर आया । कुछ उत्तर न देकर वह आँसू पोछकर जाने लगी ।

किरण ने उसका हाथ पकड़कर फिर कहा—बोलती क्यों नहीं हो नैना ! क्या मुझसे नाराज हो ? क्या मुझसे कोई अपराध बन पड़ा है ?

अब के नैना फूट-फूटकर रोने लगी । रोते-ही-रोते उसने कहा—आपसे क्या अपराध होगा मास्टर साहब । मैं बड़ी अभागिनी हूँ । मेरा कोई नहीं है ।—इसके आगे वह कुछ न कह सकी ।

“आह ! तुम कुछ चिन्ता न करो । भगवान् सभी का होता है । जब जो तकलीफ हो, मुझसे कह दिया करो नैना । तुम नहीं जानती हो कि मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ । मैं हमेशा तुम्हारा साथ दूँगा ।”

“ईश्वर आपका भला करे मास्टर साहब । आप ही के आश्वासन से जीती हूँ, अन्यथा न जाने मेरा क्या हाल होता ।”

“सो तो कोई बात नहीं ।”—कहकर किरण ने ज्यो ही पीछे की ओर देखा, तो त्रिपुरा खड़ी मुसकरा रही थी । मुसकराकर ही वह बोली—ओहो ! मास्टर साहब है । आज जल्दी कैसे आना हुआ ?

“योंही आ गया त्रिपुरा । आओ न, पढ़नेका समय हो गया ।”

“सो तो मैं जानती हूँ । आधे घंटे से यहाँ खड़ी हूँ ।”

“आधे घंटे से ?”—किरण ने आश्चर्य से पूछा ।

“जी हाँ !”—त्रिपुरा ने व्यंग्य से कहा ।

उस दिन की पढ़ाई शीघ्र ही समाप्त हो गई । मास्टर साहब

के बहुत जोर देने पर भी त्रिपुरा अधिक न पढ़ सकी ; क्योंकि उसे वे सब बातें—जो आज उसने सुनी थीं—अधिक मसाला लगाकर गंगा से कहनी थी ।

( ४ )

रात को खा-पी चुकने के बाद गंगा ने देवीप्रसाद से कहा—  
सुनते हो अपनी लड़की के लच्छन !

“ किसके, त्रिपुरा के ? ”

“ राम ! राम !! भला त्रिपुरा के पीछे क्यों पड़े हो ? ”

“ तो किसके, इन्दु के ? ”

“ पागल तो नहीं हो । मेरी लड़की ऐसा करे और जीती रहें ? असम्भव है । उसी वक्त गला दबाकर मार दूँ..... ”

“ आखिर बात क्या है ! क्यों तुम लड़कियों के पीछे पड़ी रहती हो ? ”—भुँभलाकर देवीप्रसाद ने कहा ।

“ तुम्हारे आँखें भी नहीं हैं, कान भी नहीं । मेरे तो दोनों सतर्क हैं । ”

“ फिर वही पहेली बुझा रही हो । साफ-साफ कहो, क्या हुआ ? ”

“ होगा क्या । नैना रानी किरणकुमार के साथ प्रेम-लीला करने लगी है । ”

“होश मे नहीं हो क्या ?”

“मैं तो होश में हूँ, भली-चंगी हूँ, मेरा विश्वास नहीं है, तो त्रिपू को बुला दूँ। उसी से पूछ लो। उसका तो यकीन आगगा ?”

“तुम्हीं कहो।”—उत्तेजित होकर देवीप्रसाद बोले।

आशा पाकर गंगा ने त्रिपुरा की कहीं बातों को चौगुना बढ़ाकर खूब नमक मिर्च लगाकर पति को सुना दिया। सुनते ही देवीप्रसाद आग बबूला हो गए। दोनों हाथ पटककर बोले—कल में किरण को जवाब दे दूँगा।

“किरण को क्या जवाब दोगे ?”

“चले जाने को कहूँगा, पाजी से, और क्या।”

“अपना सोना खोटा, परखनेवाले को दोष! यही तो तुम्हारी बुद्धि है। पहले अपनी लड़की को जवाब दो, तब दूसरे को देना।”

“क्या कहती हो तुम, लड़की को क्या जवाब दूँ ?”

“जहाँ उसका जी चाहे चली जाय। तुम न कहे तो मैं कहूँगी। मैं इस छेकरी के साथ अपनी लड़कियों को नहीं विगाड़ना चाहती। अब अधिक लाड़ न लड़ाया जायगा। लोक-लाज तो जैसे धोकर पी ली है।”—देवीप्रसाद सिगरेट का धुँवाँ उड़ाने लगे।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब नैना इन्दु को कपड़े पहनाने लगी, तब गंगा शीघ्रता से इन्दु को छुड़ाकर ले गई। जाते-जाते कह गई—अब बहुत हो चुका। यहाँ अब तुम्हारा रहना न हो सकेगा !.. . . .।

और भी कुछ कहा ; पर नैना सुन न सकी। वह अवाक् होकर वहीं खड़ी रही। इतने ही में इन्दु दौड़कर आई और नैना से लिपट गई। बोली—ईदी !—नैना का हृदय स्नेह से भर गया, आँसू बरबस टपक पड़े। भोली बालिका कुछ न समझ सकी।

नैना ने इन्दु को छाती से लगा लिया। नैना को रोते देखकर, इन्दु भी रोने लगी। इन्दु का रोना सुनकर गंगा दौड़कर आई। आते ही गरज उठी—यह क्या हो रहा है। इन्दु को क्यों मारती हो ? उसने क्या अपराध किया ?

सुनकर नैना दुखी स्वर से बोली—इन्दु को मैं क्यों मारूँगी चाची। मैं तो उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करती हूँ। क्या आप को मेरे ऊपर दया नहीं आती . . .। वह और भी कुछ कहना चाहती थी ; लेकिन आँसुओं ने गला बन्द कर दिया।

“ प्राणों से ज्यादा प्यार इन्दु को क्या करोगी ! इन्दु को मारो ही मत, यही बड़ी बात होगी। खैर, अब तो तुम्हारे लिये इस घर में जगह नहीं है। जहाँ इच्छा हो चली जाओ। मैं साफ बात जानती हूँ। तुम्हारे चाचा की भी यही राय है। ”—ग्रह कह-

कर गंगादेवी जाने ही वाली थीं कि नैना उनके पैरो पर गिर पड़ी। मगर कुछ फल न हुआ। देवीप्रसाद से विनय की; किन्तु पत्थर का हृदय पिघल न सका। किसी को भी नैना की बात का विश्वास न हुआ। त्रिपुरा की बात पर अविश्वास नहीं किया जा सकता था; क्योंकि वह उनकी अपनी ही सन्तान थी।

आखिर हताश होकर नैना ने किरण को एक चिट्ठी लिखी—  
मैं विपत्ति में पड़े गई हूँ। सुबह से ही बाहर पड़ी हूँ।  
कृपया आप मेरी सहायता करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी  
कीजिए।—इत्यादि

किरण त्रिपुरा को पढ़ाने आया, तो बाहर ही नैना से मिला। नैना ने चुपके से वह चिट्ठी किरण को पकड़ा दी और बोलने का निषेध कर दिया। किरणकुमार चिट्ठी पढ़ते-पढ़ते भीतर चला गया। नैना बाहर खड़ी आशा से समय बिताने लगी। त्रिपुरा को पढ़ाकर जब किरण बाहर आया, तब आशा से नैना देखने लगी। उसने आशा की थी कि किरणकुमार उसके पास आएगा। मगर उसने देखा—वह एक कागज का टुकड़ा पैरो के पास फेंककर जल्दी से चला गया।

कुछ निराश होकर नैना ने वह कागज उठा लिया। उस पर लिखा था—मैं नहीं जानता था कि यहाँ तक नौबत आ जायगी। मेरे समान मामूली आदमी को देवीप्रसादजी के कामों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मुझे खुद ही डर है कि कहीं मेरी नौकरी न चली जाय, जिससे मेरी बूढ़ी माँ को भूखों मरना पड़े।

तुम्हारी अवस्था पर दुःख है, मगर मैं लाचार हूँ।—क्रोध और निराशा के कारण नैना के मुँह से निकल पड़ा—कायर !

( ६ )

सब ओर से निराश होकर नैना फूट-फूट कर रोने लगी और वेदना से छटपटाकर ईश्वर को कोसने लगी ।

“कहते हैं—ईश्वर है । स्वयं मैं भी तो अब तक उसी पर विश्वास करती आई हूँ ; पर अन्त मे यह फल मिला । अपने जानते तो मैंने कोई अपराध नहीं किया, तब मुझे इतना भारी दंड क्यों मिला ? पूर्वजन्म का दंड इस जन्म में क्यों मिले ? यह भी तो मुझे मालूम नहीं है कि मैंने क्या अपराध किया और दंड मुझे सहना पडा । वाह ! क्या न्याय है ! माता-पिता जन्म देकर इस प्रकार असहाय छोड़ गए हैं । चाचा-चाची ने घर से ही निकाल दिया । जिसकी आशा की थी, वह इस तरह रूखा जवाब दे गया । अब भी क्या ईश्वर नहीं देखता, क्या वह अन्धा है ?”

सहसा नैना को याद आई—अपने राखीबन्द भाई नरेन्द्र की । उसकी आँखे चमक उठी, हृदय मे प्रकाश छा गया । पर तुरन्त ही वह निराश हो गई । आह ! कौन उसे मेरी खबर देगा ? रात भी होने लगी । तारे आसमान में टिमटिमाने लगे । भूखी-भयासी नैना वहीं बैठी रात्रि की तरह, आनेवाले अपने भविष्य की



मूर्च्छित हो गई ।

कुछ ही देर बाद उसकी मूर्च्छा भंग हुई । सुना, नौकर पूछ रहा था—आपका नाम क्या है ?

“ मेरा नाम नरेन्द्र है । ”—उत्तर मिला ।

“ बाबूजी तो बाहर गए हुए हैं । ”—नौकर ने कहा ।

“ क्या नैनादेवी घर में नहीं है ? मैं उन्हीं से मिलना चाहता हूँ । ”

“ नरेन्द्र भैया । ”—कहकर नैना नरेन्द्र के पैरो से लिपट गई ।

“ तुम बाहर क्या कर रही हो नैना ? ”

“ तुम्हारी प्रतीक्षा ? ”

“ मेरी प्रतीक्षा ? ”

“ हों भैया । ”

“ तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं आ रहा हूँ । ”—आश्चर्य से नरेन्द्र ने पूछा ।

“ विपत्ति में सबसे अन्त समय तुम्हारा ध्यान आया । और तो मेरा अब कोई नहीं रहा भैया ! तुम भी क्या ठुकरा दोगे ? तुम कैसे आए भाई ? ”

“ मैं तो अपने एक जरूरी काम से आया था । मालूम तो था ही कि तुम यहाँ हो । सोचा, तुमसे मिलता जाऊँ । अब तुम कहो, यह क्या हाल है ? ”

नैना ने आदि में अन्त तक सब बातें कह सुनाईं । सुनकर

नरेन्द्र क्रोध से कौपने लगा। फिर कुछ शान्त होकर बोला,  
“चलो बहिन, ईश्वर मुझे तुम्हारे विश्वास के योग्य बनाएगा।”

“भैया, एक बार अन्दर जाकर चाचा चाची को प्रणाम कर  
आऊँ।” नरेन्द्र बिना कुछ उत्तर दिए नैना के साथ हो लिया।

नैना ने देवीप्रसाद और गंगा को प्रणाम किया। दोनों चुप  
रहे। त्रिपुरा को और इन्दु को प्यार करके वह खड़ी हो गई।  
सब विस्मित से हो रहे थे, केवल इन्दु ने नैना को पकड़ लिया।  
नरेन्द्र ने नमस्कार करके जरा ऊँची आवाज में कहा, “नैना मेरी  
बहिन है, अतएव उसका अपमान करना मेरा ही अपमान करना  
है। मैं उससे सारी बातें सुन चुका हूँ। आपकी नीचता को  
धिकार है।”

तीनों ने सिर मुका लिया, केवल इन्दु बोल उठी, “दीदी”

उस समय रात अधिक नहीं हुई थी। दोनों भाई-बहिन  
स्टेशन की ओर चल दिये।

नैनीताल }  
सितम्बर, १९३४ }



विमाता





जनी ने विवाह के बाद जब ससुराल में पैर रखा तो उमे मालूम हुआ कि वह 'नई-बधू' नहीं बल्कि 'गृहिणी' है, उसके घर में आते ही सब नौकर-चाकर उससे आज्ञा लेने लगे। घर-द्वार की चाभी उसके आँचल में बँध गई, उसके पति की एकमात्र संतान जीवन उसे 'माँ' कहकर पुकार उठा, रजनी ने उस ४ वर्ष के अबोध बालक को दोनो हाथ फैलाकर पकड़ना चाहा, परन्तु वह दौड़कर भाग गया, रजनी ने देखा एक ही दिन में वह पूर्ण बन गई—माँ बन गई। उसका हृदय मातृत्व के गौरव से भर उठा, वह १५ वर्ष की बालिका इस एक ही दिन में अपने को गृहिणी समझने लगी—माँ समझन लगी, उमे मालूम हुआ मानो जीवन को उसी ने अपने गर्भ में धारण

किया है और फिर उसका पालन-पोषण भी वही करती आई है। वह जितना ही सोचने लगी उतना ही उसे मालूम हुआ कि वह माँ है और जीवन उसका बेटा है। वह प्रसन्न हो उठी।

( २ )

बाबू रामाकान्त की पहली स्त्री मालती का देहान्त हो चुका था। बहुत सोच-विचार करने के बाद उन्होंने अपने चाचा के कहने से पुनर्विवाह कर लिया, पहली स्त्री से एक पुत्र था। राधाकान्त बाबू का विचार था कि विवाह का उद्देश्य संतान-प्राप्ति है। अतः संतान के रहते हुए विवाह करना पाप है; परन्तु बूढ़े चाचा के स्नेहमय अनुरोध को टालने की शक्ति उनमें नहीं थी।

सोहागरात को उन्होंने रजनी को उपदेश दिया था गृहस्थ-धर्म का और जीवन की देख-रेख का, बेचारी बालिका अन्यमनस्क हो उठी, वह अपनी सखियों से सुनती आई थी कि 'सोहागरात' कैसी होती है। उसी के अनुसार उसने अपनी भी कल्पना की थी, परन्तु हा भगवन्! वह व्यथित हो उठी, आदर नहीं, प्यार नहीं। वह ऐसे उपदेश को लेकर क्या करेगी? बालिका मुँह फेरकर रोने लगी, उसे मन ही मन क्रोध आया—गृहस्थ-धर्म पर और जीवन पर, क्या येही उसकी सोहागरात को व्यर्थ करनेवाले हैं? ..... परन्तु उसी क्षण वह अपने को धिक्कार उठी, “छिः कैसी बुरी बात

है। जीवन मेरा बेटा है, मैं उसकी माँ हूँ। अब वह कुछ स्वस्थ रहने और सोने का प्रयत्न करने लगी। मन ही मन वह अपने को सुखी समझने का प्रयत्न करने लगी। उसने सोचा, “मुझे कमी किस बात की है ? इतना रुपया-पैसा है, नौकर-चाकर, इतना बड़ा मकान, मैं ही इन सबकी स्वामिनी हूँ। जो चाहूँ सो करूँ, पर.....जब माँ के पास जाऊँगी। वहाँ हीरा, राजो और देवी आकर पूछेगी ‘कहो कैसी बीती सोहागरात.....’ हे ईश्वर ! तब मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगी ? ” सोचते सोचते वह फिर अघोर हो उठती, क्षण भर पहले वैभव का जो चित्र उसकी आँखों में नाच उठता वही अब उसे काटने दौड़ा। उसका जी हुआ कि वह जोर से चिल्ला उठे परन्तु अपनी स्थिति को सोचकर उसने नीचे का होठ ऊपर के दाँतो से दबा दिया। फिर भी उसकी आँखें रुक न सकी। सावन-भादो की भौंति बरसने लगी।

( ३ )

रजनी ने देखा जीवन उसके पास बहुत कम आता है। वह जितना ही उसे चाहने लगी, जीवन उससे दूर रहने का प्रयत्न करने लगा। मानो वह उसे माँ कहने को तैयार नहीं था। मौका पाकर रजनी ने एक दिन उसे पकड़ लिया। बालक भयभीत हो अपराधी की भौंति नीची नजर किए खड़ा रहा। रजनी ने उसे



गोद में उठा लिया और खूब प्यार करने लगी। इस आकस्मिक विपत्ति से वह छटपटाने लगा। रजनी ने हँसकर कहा, “ एक बार माँ कह दो तो तुम्हे छोड़ दूँ, बोलो कहोगे ? ”

“ ऊँहूँ । ” जीवन ने रोनी-सी आवाज में कहा।

“ क्यों नहीं। सुनूँ तो ”

“ नहीं कहूँगा, मुझे छोड़ दो ”

“ तुमको कहना ही पड़ेगा नहीं तो मैं नहीं छोड़ूँगी ” रजनी ने कुछ ऊँचे स्वर से कहा। जीवन जोर से रो पड़ा। रजनी घबड़ा गई। उसने उसे झटपट गोद से उतार दिया और मनाने लगी। परन्तु हठीला बालक चुप न हुआ। राधाकान्त बाबू ने बच्चे का रोना सुना तो लपके हुए आए। पिता को देखकर जीवन और भी जोर से रोने लगा। कुछ न समझकर उन्होंने कड़े स्वर से कहा, “ रजनी ”। “ मैं कहता हूँ— ” उन्होंने रुखे और कड़े स्वर से फिर कहा— “ इस तरह तुम नहीं रह सकती। इस बिना माँ के बच्चे को दिक करने में तुम्हे क्या मिलता है ? मैं देखता हूँ जीवन आजकल तुमसे भागता फिरता है। बोलो क्या चाहती हो ? याद रखो मैं तुमसे अधिक जीवन को प्यार करता हूँ। जीवन के लिये ही मुझे तुम्हारी जरूरत है। ” यह कहते हुए जीवन का हाथ पकड़कर बाहर चले गये।

अपराध न होने पर भी अपराधिनी की तरह वह वहीं खड़ी खड़ी आँसू बहाने लगी। उसे पति के शब्द तीर की तरह चुभने लगे। “ ‘बिना माँ का बच्चा’, कौन कहता है जीवन बिना माँ का

बच्चा है ? ” वह आप ही बड़बड़ाने लगी—“वह मेरा बच्चा है—पर नहीं—अगर मेरा बच्चा होता तो क्या मुझे माँ कहकर न पुकारता और ‘बे’ ही कैसे उसे मेरे पास से खींच ले जाते ? ठीक है, वह मेरा बच्चा नहीं है, नहीं है। वह मेरा शत्रु है। इसी कारण तो आज मेरी सब आशा अभिलाषाओं पर पानी फिर गया, मेरा जीवन बर्बाद हो गया... छिः छिः मैं कितनी कठोर हो गई हूँ, हे ईश्वर ! मुझे दंड दो, जहाँ मुझे प्रसन्न होना चाहिए था वहाँ मैं जलती हूँ। इसीलिये तो मुझे दुःख उठाना पड़ता है। जीवन, जीवन मुझे क्षमा करना मैं तेरी माँ होने योग्य नहीं ” और तब दोनो हाथों से मुँह ढककर रोने लगी।

( ४ )

दिन पर दिन बीतने लगे, रजनी जी-जान से गृहस्थी निभाने लगी पति और पुत्र की सेवा के लिये उसने अपने आपको उत्सर्ग कर दिया। वह पढ़ी-लिखी बहुत नहीं थी फिर भी उसने जो शिक्षा पाई थी वह ठोस थी। उसके लिये इच्छाओं का मूल्य तर्भा तक था जब तक उन इच्छाओं से किसी को हानि नहीं थी। परन्तु जब अपनी ही इच्छाएँ नागिन की तरह फुँफकारने लगी तब उसने उन्हें पैरो-तले दबाकर कुचल दिया। फिर भी वह सोचती थी कि अभी बहुत त्रुटियाँ हैं। जब तक सन्तोष नहीं हो

जाता तब तक प्रयत्न करना ही पड़ता है। साधना में सन्तोष होना कठिन है और साधना का कहीं अन्त नहीं। वह अपने आपको सोने की तरह चमकाना चाहती थी। विपत्ति की अग्नि में तपकर वह दिनरात परिश्रम करने लगी।

वह सुनती थी कि जीवन उसे माँ कहता है। सुनकर ही वह तृप्त हो जाती थी। “आहा बच्चा है, अभी शर्माता है, पीठ पीछे तो माँ कहता ही है। फिर तुरत ही वह मन ही मन खीझ उठती। अभागा अगर सामने ही यह छोटा सा संबोधन करके बोल देता तो मेरो साध पूरी हो जाती। पर . . . नहीं, नहीं, मैं भूल करती हूँ। साध पूरी तो इस जीवन में होगी ही। फिर इतना अधैर्य क्यों? अगर मैं सच्चे दिल से तुम्हें प्यार करती हूँ, अगर मैं तेरी माँ हूँ तो अवश्य तू मुझे माँ कहकर पुकारेगा। आज न सही, कभी तो कहेगा, हाँ जरूर कहेगा।” तब वह आनन्द से आँखें मूँदकर हाथ फैला देती मानो पुत्र को छाती से लगा लेना चाहती हो। यही तो उसके जीवन की सबसे बड़ी साध है।

कभी वह ऊब उठती थी—पर तुरन्त ही विचार करने लगती थी, “अपनी इच्छाओंकी पूर्ति के लिये ही क्या मैंने विवाह किया था? यदि नहीं तो फिर मुझे इतनी व्यथा क्यों है?” वह प्रार्थना करती—“हे दयामय मेरे जीवन की इस प्रलयकारिणी ज्वाला को शान्त करो। मुझे मार्ग दिखाओ मुझे शान्ति दो, धैर्य दो। इसके सिवा वह कुछ न कह पाती, गला रुँध जाता। आँखों से आँसुओं

की धारा बहने लगती । वह पगली सी हो जाती—रोते रोते, किन्तु इन कुछ ही क्षणों में उसे इतनी शान्ति प्राप्त हो जाती कि वह आश्चर्य-चकित हो उठती । वह इतनी शक्ति प्राप्त कर लेती थी कि फिर सारे कार्य पूर्ववत् कर लेती । उसे मालूम होता मानो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है । कहीं दुःख नहीं, कष्ट नहीं और हाहाकार करनेवाली व्यथा भी नहीं ।

( ५ )

संसार में दुःख और कष्टों का कहीं ओर-ओर नहीं, 'सुख' 'सुख' कहते मनुष्य अन्धकार में भटकता फिरता है । परन्तु वह सुख किसे मिला जिससे आत्मा की तृप्ति हो ? सांसारिक सुख मृग-तृष्णा है, धोखा है ।

रजनी ने भी सुख चाहा था । उसे भी इच्छा थी । जमाने के साथ वह भी चाहती कि अपने पति के साथ जीवन को आनन्द में बिताऊँ । जब उसकी उम्र की लड़कियों स्वामी के साथ सिनेमा या थियेटर जातीं तब वह न जाने कितनी कल्पना करती अपने भविष्य की । भविष्य के सुख में खिभोर होकर वह दर्पण में अपना मुँह देख लेती थी । मन ही मन कहती, "सुन्दर तो हूँ ही ।" लेकिन विवाह होने पर जब उसकी समस्त उमंगें विलीन हो गईं तब चाभियों के गुच्छे के साथ ही व्यथाओं को भी उसने आँचल

तेतालीस

भे बाँध लिया, वह अपने मन को स्थिर करना चाहती थी, वह चाहती थी अपना सब कुछ जीवन में केन्द्रित कर दे। पर..... जीवन को वह पा नहीं सकती। फिर न जाने क्यों उसका हृदय जीवन के लिये व्याकुल रहता था। एक बार पड़ोस की एक युवती ने समवेदना के स्वर में रजनी से कहा—“ बहिन, जीवन के पीछे अपनी जान क्यों दिये देती हो ? पराया बेटा भी क्या कभी अपना होता है ? बेटा तो जैसा था, था, पर तुम्हारे स्वामी न जाने कैसे हैं ? तुम्हारी कुछ भी खातिर नहीं करते। ” इस पर रजनी ने बात काटकर कहा— “ नहीं बहिन, जीवन तो मेरा ही बेटा है, मेरे स्वामी का बेटा है तो क्या मेरा उममे कुछ भी नहीं है ? उसकी माता नहीं ? उसकी माता नहीं है तो क्या पिता भी उससे रूठ जाँगे ? नहीं, नहीं, यह तो मुझमें नहीं देखा जायगा। मैंने तो बचपन से लेकर अब तक बहुत आदर, बहुत दुलार पाया है। वह तो अभी बच्चा है, बिना दुलार के कैसे रहेगा ? और स्वामी की बात जो तुम कहती हो सो उन्होंने मेरे लिये क्या कमी कर रखी है ? इतना अधिकार दे रखा है यही क्या कम है ? मुझे जो जीवन की माँ कहाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ यही क्या थोड़ा है ? ” कहने को तो वह इतना सब कह गई। पर मन ही मन वह सोचने लगी, “ ठीक ही तो कहती है यह क्या ‘ उन्हे ’ मेरा सम्मान नहीं करना चाहिए था ? क्या इसीलिये मुझमें विवाद किया था कि मैं बैठी बैठी आँसू बहाया करूँ ? ओह ! निर्मम ! तुम कितने हृदयहीन हो ! ”

फिर तुरन्त ही सँभल जाती, “आह क्या इतने दिन की तप-  
 स्या केवल एक तुच्छ सी बात पर भंग हो गई .. नहीं, नहीं,  
 मैं ही अपराधिनी हूँ। इस जन्म की न सही पर पूर्वजन्म मे  
 अवश्य मुझसे कोई अपराध बन पड़ा था। उसी का यह दंड है।  
 चारो ओर सूना, उदास हो उठा है। मुझे इतना अभाव क्यों है ?  
 हर चीज का अभाव विधाता ने मेरे ही पल्ले बाँध दिया ”—सूनी  
 आँखों से चारो ओर देखकर वह विह्वल हो जाती थी। उसे न  
 जाने क्या क्या भाव आकर सताते थे, कितना ही प्रयत्न करने पर  
 भी वह अपनी दुर्बलता न हटा पाती और आँवों से टप-टप करके  
 मोती से विखर पड़ते थे।

( ६ )

शारीरिक और मानसिक कष्टों से रजनी दिन पर दिन घुलनें  
 लगी। अचानक एक दिन उसके भाई ने बिना खबर दिये ही वहाँ  
 पहुँचकर सारे घर में गोलमाल मचा दिया। धरना देकर ही बैठ  
 गया कि बहिन को लेकर ही जाऊँगा। जब किसी तरह न माना  
 तब विवश होकर राधाकान्त बाबू को आज्ञा देनी ही पड़ी। केवल  
 १५ दिन के लिये। क्योंकि बिना रजनी के गृहस्थी कौन सँभालेगा ?  
 रजनी पति के चरणों की धूल माथे पर लगा, पुत्र को सत्तृष्ण नेत्रों  
 से देख मायके के लिये विदा हुई।

बहुत दिनों बाद माता-पिता, भाई-बहिन और सखी-सहेलियों से मिलकर उसका सूखा हृदय क्षण भर के लिये हरा-भरा हो उठा। पीले चेहरे पर सुर्खी दौड़ गई मुर्झाए होठों पर मुस्कान खेलने लगी। किन्तु वह स्थायी न रह सकी। माँ ने रो-रोकर आफत मचा दी। रजनी को छाती से चिपटाकर मुँह चूमकर वह विलखने लगी और उलाहना देने लगी कि ऐसी हालत होने पर भी खबर नहीं दी।

रजनी एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करने लगी। बहुत वर्षों बाद उसे किसी ने जी भरकर प्यार तो किया। वह भूल सी गई कि कोई उसे प्यार भी करता है। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो वह मुक्त हो गई है। पिंजरे का पक्षी जिस प्रकार मुक्ति-लाभ करने पर आनन्दित हो उठता है वही दशा रजनी की भी हुई। वह बहुत खुश हो गई।

## ( ७ )

अचानक रजनी की अवस्था खराब होने लगी। वह चारपाई पर जा पड़ी। सूखकर काँटा हो गई। डाक्टर तथा वैद्य सभी का इलाज हुआ। पर अवस्था सुधरती हुई नहीं दिखाई दी। माता-पिता चिन्ता और दुःख के मारे व्याकुल हो गए। मगर रजनी बहुत शान्त गम्भीर दिखाई देने लगी। एक क्षण परन्तु

उज्ज्वल हँसी की रेखा उसके मुँह पर सदैव विद्यमान रहने लगीं मानो उसकी तपस्या अब पूर्ण होनेवाली थी। उसकी साधना सफल होने को थी।

चुपके से उसने माँ को बुलाकर कहा—“ माँ मैं अपने जीवन को देखना चाहती हूँ। बुला दोगी ? ” माँ ने सोचा जीवन के बहाने स्वामी के लिए यह बात कही गई है। उन्होंने कहा—“ राधाकान्त जी को चिट्ठी भेज दी है वे आ पहुँचेंगे। ”

“ जीवन के लाने के लिये कुछ नहीं लिखा क्या ? ” विकल होकर रजनी ने पूछा।

“ जीवन भी चला आवेगा ” माँ ने विमन होकर कहा।

“ नहीं माँ वह बड़ा हठी है। इस तरह नहीं आवेगा। अभी एक तार दे दो माँ। तुम्हारे पैरो पड़ती हूँ ” व्याकुल होकर रजनी कहने लगी।

माँ ने आश्वासन देते हुए कहा, “ अभी तार दिलवाती हूँ ” और कमरे से बाहर चली गई। रजनी मन ही मन सोचने लगी, “ सोचती हूँ वह पराया है मेरा नहीं, क्या यह सच है ? सच ही होगा। अगर ऐसा न होता तो क्या वह अब तक मुझे रूँ कहकर न पुकारता, किन्तु. मेरे प्राण उसके लिये क्यों इतने व्याकुल रहते हैं ? मुझे ऐसा मालूम होता है मानो मेरे प्राण वही रहते हैं ? मुझे ऐसा मालूम होता है मानो वही मेरा सब कुछ है। उसके बिना सब सूना लगता है.....वह जरूर आवेगा. ” रजनी आकाश की ओर देखने लगी।



तीन दिन की प्रतीक्षा के बाद राधाकान्त बाबू जीवन को साथ लेकर आ पहुँचे। रजनी उस समय सो रही थी, उसे जगाना उचित न समझकर राधाकान्त बाबू और जीवन अन्य कमरे में जा बैठे, कुछ देर बाद खबर पाकर कि रजनी उठ गई है दोनों उसके कमरे की ओर बढ़े। दरवाजे पर पहुँचते ही राधाकान्त बाबू ने देखा रजनी की देह हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गई है। उन्हें दया आने लगी, परन्तु जीवन दौड़कर रजनी से लिपट गया और रुंधे स्वर से माँ, माँ, कहने लगा, रजनी ने उठने का प्रयत्न किया परन्तु उठ न सकी। उसी प्रकार दोनों हाथों से जीवन को छाती में लगाए रही। जीवन और रजनी दोनों रोने लगे। रजनी ने धीरे धीरे कहा—“मैं तो जानती थी एक दिन ऐसा आएगा जब मेरा जीवन मुझे माँ कहेगा। वही हुआ। मेरा विश्वास पूरा हुआ।” फिर उसने जीवन का मुँह चूम लिया और जीवन से बोली—“बेटा एक बार मुझे प्यार कर दो।” जीवन मानो प्रतीक्षा ही कर रहा था उसने कौपते हुए अपने छोटे छोटे होठ रजनी के माथे पर रख दिए। हर्ष से रजनी की आँखें मोती बरसाने लगीं।

माता-पुत्र के इस मिलन पर सभी की आँखें सजल हो आईं। राधाकान्त बाबू भी अपने आँसू नहीं रोक सके।

नैनीताल  
मई, १९३५

}

प्यार





वन के द्वार पर खड़े होकर गोपाल और विनीता ने परस्पर हृदयों का विनिमय किया । समस्त विश्व के सुख और आनन्द को मुट्ठी में करके मानो वे दोनों निश्चिन्त होकर संसार-यात्रा करने लगे । भविष्य उनके लिये आनन्दमय था, वर्तमान प्रेममय और भूतकाल उपेक्षणीय । युग-युग से जो प्रेम की कहानी चलती आ रही है उसमें गत्ती भर भी परिवर्तन नहीं होता ।

“ तुम मुझे कितना प्यार करती हो ? ” पुरुष प्रकृति का परिचय देते हुए गोपाल पूछता है । .इस प्रश्न में कोई तथ्य नहीं । वह जानता है, विनीता उसे प्यार करती है । फिर भी वह उसी के मुँह से सुनना चाहता है । वह यह भी जानता है कि प्यार की

कोई सीमा नहीं; परन्तु इतने पर भी पूछता है, “ तुम मुझे कितना प्यार करती हो ? ”

“ मालूम नहीं ” मधुर और छोटा-सा उत्तर । अपने आप बिलकुल ही छिपा लेने के भाव से विनीता उत्तर देती है । वह विज्ञापन नहीं चाहती—चाहती है केवल मूक-प्रेम । वह दान करती है सर्वस्व, किन्तु मोल-तोल नहीं । यदि वह चाहती तो अपना रोम-रोम दिखा सकती, परन्तु दिखाने से उसे घृणा है, इसीसे वह कहती है, “ मालूम नहीं । ”

( २ )

माया-मृग के पीछे दौड़ते दौड़ते बहुत दिन बीत गए । अचानक विनीता रुक गई । उसे मालूम हुआ मानों वह प्यासी है, एक तीखी प्यास उसके अन्तर और बाहर सभी में व्याप्त हो गई । वह निराश होकर चारों ओर देखने लगी । वह सुख और आनन्द जिसे उसने मुट्ठी में समझा था, न जाने कहाँ विलीन हो गया । कातर नेत्रों से गोपाल की ओर देखकर उसने मुँह फेर लिया ।

गोपाल कुछ न समझ सका । एकाएक यह परिवर्तन कैसा ! उसने समझने का प्रयत्न किया किन्तु उस मूक-न्यास का अनुभव वह कैसे कर सकता था, जो कि माता के हृदय की स्वाभाविक प्यास थी ।

“तुम इतनी उदास क्यों हो बिनी ?” व्याकुल स्वर से गोपाल ने पूछा—“तबीयत तो ठीक है ?”

“हाँ” बिनीता ने संक्षेप में कहा ।

“इस प्रकार एकान्त का सेवन तुन्हें क्या अच्छा लगता है ?”

“हाँ”

गोपाल क्षुब्ध हो उठा, “हर बात में ‘हाँ’ क्या यह मुझे दिखाना चाहती है कि मैं तुम्हारे बिना भी रह सकती हूँ । अच्छा, तब यही सही । मैं भी तुमसे अच्छी तरह रह सकता हूँ । अभागिनी, स्त्री होकर पुरुष की बराबरी करती है । उससे बढ़ना चाहती है ।” गोपाल तेजी से बाहर चला गया । बिनीता को अपनी गलती मालूम हुई । वह यह क्या कर बैठी । उसने जल्दी से बाहर आकर देखा गोपाल चला गया था । हतबुद्धि की तरह बिनीता देखती रही । उसे ज्ञात हुआ जैसे वह अपना सब कुछ खो रही है । अनुभव हुआ मानो प्रेम का वह बन्धन जिसे दोनों ने कसकर बाँधा था, धीरे-धीरे शिथिल होता जा रहा है, असम्भव नहीं कि एक दिन वह बन्धन बिलकुल ही टूट जाए और दोनों ही बिलग हो पड़े .. सहसा बिनीता काँप उठी । ‘नहीं नहीं’ वह स्वामी को प्यार करती है । ऐसा कभी भी नहीं होगा । वह और किसी को नहीं चाहती, संतान को भी नहीं .... पर यह तो झूठी बात है । झूठ को वह कैसे आश्रय दे सकेगी ? संतान को वह चाहती है, चाहती है । वह झूठ नहीं बोलेंगी । स्वामी से कहेगी कि वह

संतान के लिए व्याकुल है .. परन्तु वह उदास  
हो गई ।

( ३ )

दुख अभाव में है, परन्तु अभाव को ही मनुष्य सबसे अधिक प्यार करता है । इसी से सूक्ष्म रूप में दुःख को ही प्यार करता है ।

यौवन के अन्त में विनीता ने दुःख का अनुभव किया, क्योंकि उसे जीवन में अभाव मालूम हुआ । उसी अभाव को जो कि उसके दुःख का कारण था वह प्यार करने लगी, इसलिये यह ठीक है कि उसने दुःख को ही प्यार किया ।

उसे चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगा, उसने देखा गोपाल सुख के लिए इधर-उधर भटक रहा है । यह दृश्य उसे असहनीय हुआ । वह दोनों हाथ फैलाकर गोपाल को हृदय से लगाने दौड़ी; किन्तु उसे मालूम हुआ कि गोपाल उसकी अवहेलना करके चला गया । कल्पना के नेत्रों से इतना देखकर वह भयभीत हो गई । घुटने टेककर रोते-रोते हाथ जोड़कर कहने लगी, मुझसे अपराध हुआ । तुम लौट आओ । फिर पहले की तरह सुख से जीवन बिताएँगे । आओ, आँसू पोंछकर वह गोपाल के कमरे में गई । गोपाल बाहर जाने को तैयार था । विनीता ने उससे क्षमा के स्वर में कहा, “ कब लौटोगे ? ”

चौवन

“ कह नहीं सकता ” उपेक्षा के स्वर में गोपाल ने उत्तर दिया ।

“ मुझे बुरा लगता है । तुम मत जाओ । ” विनीता रो पड़ी ।

गोपाल कुछ कहने जा रहा था, किन्तु विनीता को रोते देखकर वह चुप रहा, और चुपचाप ही कमरे से बाहर हो गया । विनीता यह अपमान सह न सकी । उसे तो इच्छा हुई कि वह सिर पटक कर प्राण त्याग दे ।

जिसे अपना सर्वस्व दान किया उसी के द्वारा अपमानित होकर जीने की अपेक्षा मर जाना लाख गुना अच्छा है । क्रोध और ज्ञोभ से विनीता का शरीर काँपने लगा । बीते हुए दिन चल-चित्र की भाँति उसके सामने ही चित्रित होकर अट्टहास करने लगे । व्यथा से उसका हृदय चूर चूर हो गया । वह मुँह छिपाकर रोने लगी ।

( ४ )

क्रम से ही अभ्यास बढ़ा करता है । गोपाल ने भी अपना अभ्यास बढ़ाया । वह सुख की खोज में दिन-दिन भटकने लगा । एक दिन अपने दो-चार अन्तरंग मित्रों को लेकर विनीता ही के सामने सुरादेवी की आराधना शुरू हुई । तब अभिमान से विनीता रो उठी, उसे विश्वास हुआ कि उसके स्वामी का पतन हो रहा



है.....। एकान्त मे पति से उसने कहा, “क्या यह जो तुम आगे बढ़े जा रहे हो यह उचित है ?”

बिलकुल सीधे होकर गोपाल ने कहा, “उचित न होता तो आज सभ्यता के ऊँचे शिखर पर चढ़े हुए पश्चिमी समाज मे इसका प्रचार क्यों होता ?”

“पश्चिमी समाज की नकल करने को तो और भी बहुत सी बातें हैं” विनीता ने कुछ उत्तेजित-सी होकर कहा।

“धीरे-धीरे सभी कुछ करूँगा। तुम घबराओ मत। जब आदमी को घर पर सुख नहीं मिलता तभी वह सुख की, आनन्द की खोज में निकलता है।” आवेश मे गोपाल ने कहा।

विनीता को मानो काठ मार गया। उसे पति की बातें भाले की तरह छेदने लगी।

गोपाल जाने को हुआ। विनीता ने जैसे नींद से चौंककर कहा, “एक प्रश्न का उत्तर दिए जाओ।” उसके स्वर में आज्ञा थी। गोपाल घूमकर खड़ा हो गया।

विनीता ने पति की आँखों में आँखें गड़ाकर कहा, “क्या तुम यह सब मुझसे रुष्ट होकर कर रहे हो। अगर ‘हाँ’ तो बोलो किस बात पर ?”

गोपाल ने कुछ नहीं कहा। उसे मालूम हुआ, विनीता सच कह रही है। वह सोचने लगा सचमुच ही विनीता ठीक कहती है। उसका कुछ अपराध नहीं। किन्तु वह सदा अनमनी क्यों रहती है ? मैं तो उसे इतना प्यार करता हूँ जितना शायद हो कोई अपनी

खी को करता होगा..... । किन्तु इतने पर भी वह खुश नहीं है। तब वह क्या चाहती है ? 'तब वह क्या चाहती है' में उसकी विचार धारा रुक गई। अगर वह जरा भी और सोचता तो उसे पता चलता कि वह क्या चाहती है ? नारी का जन्म पाकर ही उस चाह को जाना जा सकता है, गोपाल यह न समझ सका।

पति द्वारा अपमानित होकर विनीता धरती में लोटने लगी। आँखों से दुःख के चिर-साथी आँसू मोतियों की तरह इधर-उधर बिरखने लगे। उसके हृदय के भीतर जो यह बड़ा भारी तूफान उठ रहा है, इसे वह कैसे रोके इसका वह निश्चय न कर सकी।

विचारों का तुमुल संग्राम मच गया। "क्या घर में मुझसे उनको सुख नहीं मिलता ? क्या मैंने उनके सर्वस्व अर्पण नहीं कर दिया ? तब आज इस अवस्था में मुझे ठुकरा रहे हैं, क्यों ? वे मुझसे क्या चाहते हैं ? वे अगर जान पाते कि मैं उनको कितना प्यार करती हूँ... ।" इससे आगे वह न सोच सकी। अगर वह और आगे बढ़ती तो उसे मालूम होता कि पुरुष क्या चाहता है, वह जान पाती कि उसका स्वामी भी क्या है। वह माता के रूप में प्रेयसी को चाहता है। विनीता माता भी नहीं है और अब प्रेयसी भी नहीं। नारी के अपूर्ण रूप में उसका अस्तित्व है।

गोपाल अपने आपको भुला सकता है। मित्र-मंडली में खुले वायु-मंडल में वह व्यर्थ ही अपने आपको मिट्टी नहीं कर

सकता। किन्तु विनीता घर में रहकर सूना आँगन नहीं देख सकती। इतनी भयंकर निराशा में भी उसे आशा थी। खिले फूल को देखकर वह कहती 'इसी की तरह उसकी हँसी होगी।' किसी तन्दुरुस्त बालक को देखकर वह कह उठती 'ऐसा ही होगा।' उस अज्ञात स्नेह को संसार में जिसे श्रेष्ठ समझती उसने एक शिशु के लिये सुरक्षित रखा था। उस संचित स्नेह-धन का एक छोटा सा अंश भी वह किसी को देना न चाहती थी। वह इतना भी नहीं जानती थी कि माता का स्नेह कंजूस की तरह छिपाकर रखा नहीं जाता। वह तो सागर की भोंति अनन्त और अपार है जो कभी चुकता ही नहीं।

( ५ )

वे दोनो अपने जीवन में अभाव का अनुभव कर रहे थे। कारण जानते हुए भी अनजान से बने एक दूसरे से विमुख और अन्यमनस्क हो उठे थे। इसी अवसर पर गोपाल को उसके मित्र की चिट्ठी मिली जिसका आशय था, बच्चा होने में उसकी स्त्री का देहान्त हो गया और वह छुट्टी लेकर नवजात शिशु को अपने साथ ला रहा है। इस आपत्काल में उसके और कोई भी नहीं है। इसी से मित्र के नाते वह उन्हें ही कष्ट देगा।

दूसरे ही दिन मित्र महाशय उस नन्हे से बालक को लेकर आ पहुँचे। आते ही उन्होंने उसे गोपाल के हाथों में सौंप दिया।

अट्टावन

उस कोमल स्पर्श से गोपाल की देह पुलकित हो गई। बच्चा रोने लगा। गोपाल मन्त्रमुग्ध की तरह अन्दर गए। विनीता गृहकार्य में लगी हुई थी। बच्चा अभी भी चुप नहीं हुआ था। विनीता ने पीछे फिरकर देखा और दोनो हाथ फैला दिए। गोपाल ने चुपचाप बच्चे को उसकी गोद में दे दिया। विनीता की गोद में जाते ही बच्चा चुप हो गया। दोनो अभी तक मौन थे। बच्चे के चुप होते ही विनीता खुशी से फूल उठी। गोपाल उस प्रसन्नता को आश्चर्य से देखने लगा। यह क्या ? एकटक पत्नी के मुँह की ओर देखते हुए उसे अनुभव हुआ कि विनीता अपने असली रूप में है। उसे जिस रूप में वह देखना चाहता था आज वह उसी रूप में थी।

आदर के स्वर में उसने पुकारा, “विनीता।”

विनीता बालक को देखने में इतनी तन्मय थी कि उसे पता ही न चला कि स्वामी तब से वहीं खड़े हैं। वहाँ लजा गई। सिर उठाकर देखा। दोनो की आँखें चार हुईं। विनीता चकित-सी होकर देखने लगी। यह कैसा परिवर्तन ! इस एक ही क्षण में स्वामी का यह भाव कैसा ! उसने मन ही मन भगवान् के चरणों को प्रणाम किया। बच्चा फिर रो उठा। ‘वह भूखा है’ कहकर विनीता उसे लेकर चल दी, मानो वह उसे एक क्षण को भी बिलग नहीं करना चाहती थी।

छुट्टी समाप्त होने के कारण गोपाल के मित्र काम पर जाने के तैयार हुए। उनका बच्चा विनीता के पास सुखी है यह जानकर उन्होंने निश्चिन्तता की साँस ली। चलते समय आँखों में आँसू

भरकर उन्होंने मातृ-हीन बालक को छाती में लगा लिया। अपनी प्रेम-भयिणी पत्नी की याद में वे व्याकुल हो गए। बड़ी कठिनाता से बिदा होकर स्टेशन के लिये चल दिए।

( ६ )

बच्चे का नाम रक्खा गया अंजन।

अंजन धीरे-धीरे खड़ा होने लगा। विनीता उसकी बाल-लीला देखकर फूली न समाती थी। कभी-कभी वह भी बिलकुल बच्ची-सी बनकर अंजन के साथ खेलने लगती थी। स्वामी के साथ बहुत दिनों से मन ही मन उसका जो वैमनस्य हो रहा था उसे वह भूल गई। एक नवीन उत्साह से उसका हृदय भर गया। वह यह भी भूल गई कि अंजन उसके पति के मित्र का लड़का है और उसके पास तो केवल धरोहर के रूप में ही वह आया है। कौन जाने कब बच्चे का बाप आकर धरना दे दे और तब तो उसे वह धरोहर लौटानी ही पड़ेगी। उसे स्वप्न में भी इन बातों का ध्यान नहीं आता था। अब वह उस दिन की प्रतीक्षा करने लगी जब अंजन उसे 'माँ' कहकर पुकारेगा और तब वह सत्यनारायण की कथा करेगी और सारे शहर में मिठाई बाँटेगी। जब अंजन का पिता अंजन के लिए खिलौने भेजता तब वह कुढ़कर रह जाती। वह यह नहीं चाहती थी कि अंजन अपने पिता को जाने। अगर उसका वंश चलता तो वह प्रकृति के उस रिश्ते को ही मिटा देती।

अभागिनी भूल गई थी कि किसके कारण आज वह पुत्रवती हुई है। कृतज्ञता के बदले वह कृतघ्नता करती है। कैसी भयानक भूल थी।

माता का दूध न मिलने से अंजन बहुत कमजोर था। इधर वह कुछ दिनों से ज्वर से भी पीड़ित रहने लगा। बहुत उपचार हुए। विनीता ने खाना-पीना छोड़ दिया, गोपाल ने भी बहुत दौड़-धूप की, किन्तु अंजन इन सबकी उपेक्षा करके जन्म की प्यासी नारी की प्यास को और भी भड़काकर चल बसा।

गोपाल ने सोचा, न मालूम विनीता क्या करेगी, परन्तु विनीता ने आँसू गिराकर आँचल से आँखें पोंछ ली, मानां यही उसका अन्तिम रोना है। आँसू चाटकर उसने प्यास बुझानी चाही थी, पर आँसू की बूँदों को भी जब सूर्य की किरणों की चाल ले गई तब उसकी आँखें खुली। तभी वह जान पाई कि वह जन्म से ही माता है। संसार के समस्त बालक ही उमकी मंतान है। उसने केवल एक के ही लिए अपने हृदय में स्नेह संचित कर रखा था. ..। हाँ, अब वह समस्त स्नेहदान कर देगी, सारे हृदय को खोल देगी।

विनीता ने जब अंजन को पाया था तब वह समझती थी मानो सभी वैभव पा गई और उस समय वह अपूर्व आह्लाद से भर गई थी। तब उसने एक की ही ममता की थी—वह मोह था; किन्तु अब उसने सारे विश्व से नाता जोड़ा—यह प्रेम है। एक को खोकर उसने सबको पा लिया।

विनीता सोचते-सोचते आनन्द से भर गई, उसने देखा कि सारा ब्रड्गांड उसके सामने है। समस्त जन-समाज हाथ जोड़े उससे माता का प्रेम माँग रहा है। उन सबकी सूरत ठीक अंजन के समान है। विनीता ने गौर से देखा—हाँ, सभी का रूप अंजन के ही समान है। वह खुले हाथों दान करने लगी, किन्तु उसका धन चुकता ही न था। क्षण भर के लिए आनन्द ही आनन्द फैल गया। विनीता ने धीरे से आँखें खोल दी।

बरामदे में रेलिग के सहारे खड़ी होकर विनीता अपने जीवन के इतिहास के पन्ने उलट रही थी, इसी अवस्था में न मालूम वह कब से खड़ी थी और कब तक रहती। इसी समय सहसा गोपाल ने पुकारा, “विनीता”

विनीता ने चौँककर सिर ऊपर उठाया।

“मेरा विचार है” गोपाल ने बड़े संयत स्वर से कहा, “कुछ दिन देश-भ्रमण करें, तुम्हारी क्या इच्छा है ?”

“मैं भी साथ चलूँगी” विनीता ने शान्त भाव से कहा।

“सो तो होगा ही किन्तु... .।”

“किन्तु क्या ?” विनीता ने पूछा।

“तुम्हारी तबीयत जो ठीक नहीं है।”

“मेरी तबीयत ठीक नहीं है ? किसने तुमसे कहा ?”

विनीता हँसी। कितनी वेदनापरग थी वह हँसी। गोपाल सहम गया।

“हमारे सुख के दिन क्या अब लौट नहीं सकते ?” गोपाल

ने विनीता के दोनों हाथ पकड़कर कहा ।

“ नहीं ” विनीता ने सहज भाव से उत्तर दिया ।

“ क्यों नहीं विनीता, अगर तुम चाहो तो... . . . । ”

“ नहीं, गई हुई चीज फिर नहीं लौट सकती । अगर सम्भव होता तो हम लोग अंजन को आज उसके पिता को लौटा देते । ” कहते हुए विनीता का गला भर आया ।

“ तुम ठीक कहती हो विनीता, गई हुई चीज फिर नहीं लौट सकती । ” एक लम्बी साँस छोड़कर गोपाल ने विनीता के हाथ छोड़ दिए ।

दोनों के हृदय व्यथा से भरे हुए थे ।

“ तो कल ही प्रातःकाल चलेंगे, तुम जरूरी सामान बाँध-बूँध लेना । ” गोपाल ने कहा ।

“ हाँ ” उसी प्रकार शान्त और गम्भीर स्वर से विनीता ने उत्तर दिया ।

## ( ७ )

बरामदे में दोनों का बिछौना बिछा था । वह रात उन्होंने आँखों में ही काट दी । आसमान में असंख्य तारे टिमटिमा रहे थे । गोपाल देख रहा था, उन तारों में अपने बीते हुए दिनों की परछाहीं, और विनीता देख रही थी अपने अंजन का रूप । दोनों



बन्ध्या





रेणु ने कमरे में आकर देखा कि दिवाकर आफिस से लौट आए हैं और चुपचाप मुँह लटकाए बैठे हैं। देखकर रेणु का मुख उतर गया। पास जाकर बोली, “क्यो क्या हुआ ?”

देखते ही चौंक पड़ी !, “ऐं आँसू !”

दिवाकर ने सिर हिला दिया, “नहीं।”

रेणु चिन्तित होकर बोली।

“क्या हुआ बताओ न ?”

“क्या बताऊँ रेणु”, दिवाकर ने गला साफ करके उत्तर दिया।

“यहो न कि फिर माताजी को नागज कर दिया ?”

“करना ही पडा।”

“ नहीं, तुम्हे माता-पिता को कष्ट देने का कोई हक नहीं। यदि वे तुमसे सन्तान के लिए फिर विवाह करने के लिए कहते हैं तो तुम्हे अवश्य करना चाहिए। मैं भी तो तुमसे.... ., ”

दिवाकर ने बात काटकर कहा, “ तुम भी कहती हो, माता-पिता भी कहते हैं। परन्तु मेरी आत्मा तो नहीं कहती। ”

“ आत्मा भी कह देगी ” रेणु ने गम्भीरता से कहा।

“ नहीं। मैं तुम्हे प्यार करता हूँ। ” आवेश में दिवाकर कह बैठा।

“ हूँ। ” रेणु शीघ्रता से कमरे के बाहर हो गई।

दिवाकर वहीं बैठकर मोचने लगे।

( २ )

रेणु का विवाह हुए कई वर्ष बीत गए, किन्तु अभी तक कोई सन्तान नहीं हुई। वृद्ध घनश्यामजी ने एक दिन अपने पुत्र दिवाकर से कहा—

“ दीवू! तुम्हारी माँ की बड़ी इच्छा थी कि पोते का मुँह देखती, मेरी भी तो यही इच्छा थी। इतने दिनों तक आशा के बल पर ही रहे। पर अब देखते हैं इस बहू से कुछ आशा नहीं, अच्छा होता यदि तुम दूसरा विवाह कर लेते। बेटा; हमारे

बुढ़ापे की ओर देखो। और यह भी मैं कहता हूँ कि सन्तान के लिये मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

दिवाकर ने कहा, “ परन्तु पिताजी रेणु को बिना अपराध यह दंड देना क्या ठीक होगा ? ”

“ रेणु तो बेटा, सचमुच लक्ष्मी है। किन्तु भाग्य की खोटी निकली। रेणु का कोई अपराध नहीं है और फिर उसे कोई दंड भी तो नहीं देता। रेणु ही स्वामिनी बनेगी। ”

घनश्यामजी ने आशा-भरी दृष्टि से दिवाकर की ओर देखा। माता ने भी समझाया। दिवाकर किसी प्रकार भी पुनर्विवाह करने को राजी नहीं हुए।

निराश होकर वृद्ध ने एक बार फिर प्रयत्न किया, “ अच्छा, बहू से भी एक बार पूछ लो न। ”

घूमकर दिवाकर ने उत्तर दिया, “ अच्छा ”

“ यदि बहू ने ‘हाँ’ कह दिया तो तुम राजी हो न ? ”

“ ना, मैं किसी तरह राजी नहीं हूँ। ”

“ बेटा, इतना हठ न करो ” यह कहकर माता रो पड़ी।

दिवाकर शीघ्र बाहर चले गए।

( ३ )

बहुत दिनों बाद—

मनुष्य के जीवन में कई बार ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि वह ‘किं-कर्तव्य-विमूढ़’ हो जाता है। यही हाल दिवाकर का था।

माता-पिता का अनुरोध, स्त्री के प्रति कर्तव्य, और सन्तान का मुँह देखने की इच्छा। क्या करूँ, क्या न करूँ, इसी उलझन में पड़े रहे। स्त्री के प्रति कर्तव्य ही तो था, प्रेम नहीं। अब वह कर्तव्य भी निरर्थक जान पड़ने लगा और दिवाकर को रेणु की मृत्यु की चाह होने लगी। {पुरुष-हृदय कितना कठोर है। जिसे कभी हृदय से प्यार किया था उसी की मृत्यु-कामना! जिसका शृंगार करने में कभी घंटों लगा दिए थे उसी की चिता सजाने की अब इच्छा।

परन्तु मौत तो किसी के बुलाए नहीं आती। समय पर इच्छा करते ही यदि मृत्यु आ जावे तो ससार में दुःख ही क्या रह जाय। दिवाकर का जीवन अब एक नवीन बन्धन के लिए अकुलाने लगा। इच्छा ने कर्तव्य पर विजय पाई। अब दिवाकर के हृदय पर एक बालिका का अस्पष्ट चित्र अंकित होने लगा।

माता-पिता भी कन्या की खोज में इधर-उधर संदेश भेजने लगे। दिवाकर का हृदय एक बार फिर उमंगों से भर गया। एक बार फिर 'वर' बनने की इच्छा ने हृदय को दीवाना बना डाला। रेणु से आँखें चुराने में ही आनन्द आने लगा। रेणु यह सब देखती थी, हृदय पर पत्थर रखकर। अभी से ऐसा परिवर्तन। उसकी समझ में नहीं आया।

कई बार उसने सोचा कि माँ के पास चली जाऊँ परन्तु ऐसा करना उसने ठीक न समझा। हृदय में साहस बटोर कर वह विवाह की प्रतीक्षा करने लगी। उसके बाद ? उसके बाद वह

क्या करेगी इसका वह स्वयं निश्चय न कर सकी। वह कुछ सोच ही न सकी। सोचना उसे अच्छा ही न लगा। किसी के हृदय में क्या है ? यह जान लेना सहज नहीं। फिर नारी-हृदय तो शायद कष्ट सहने के लिए ही—चुपचाप, व्यथा पाने के लिए ही—विधि ने सृजा है।

( ४ )

दिवाकर का विवाह हुए कई मास हो गए थे। रेणु की माँ ने कई बार रेणु को बुलाया, परन्तु वह जा न सकी। जाने की इच्छा ही न थी। दूटे हुए हृदय को लेकर वह कहाँ जाय ? क्यों जाय ? दिवाकर ने कई बार चाहा और कहा भी कि थोड़े दिन हो आओ, परन्तु रेणु ने शिर हिलाकर अस्वीकार कर दिया।

धीरे धीरे रेणु ने सभी कुछ मीना को सौंप दिया। घर-द्वार का अधिकार अब मीना के ही हाथ में रहने लगा। एक दिन रेणु ने अपना सब जेवर मीना को पहिना दिया और उसे सास के पास ले गई। दोनों ने सास के पैर छूकर प्रणाम किया। सास ने आशीर्वाद देकर कहा,

“ बड़ी बहू ! यह क्या ! अपने सभी गहने छोटी को दे दिये और आप ऐसी क्यों बन गईं ? ”

“ अम्मा, अब मेरी उम्र क्या शौक करने की है ? ”

“ है कैसे नहीं । अभी तू बची है । फिर शौक न रहा तो क्या रखा भी नहीं जाता । पगली कही की । स्त्री-धन ही तो स्त्री के काम आता है बेटी । ”

“ मीना भी तो घर में ही है । कहीं बाहर तो नहीं दे आई अम्मा । जब जरूरत होगी इसी से माँग लूँगी ” कहकर रेणु हँसने लगी ।

वृद्धा कुछ गम्भीर होकर रेणु की ओर देखती रह गई ।

रेणु बहुत दिनों से पति के कमरे में नहीं गई थी । उसने सोचा चलो आज देख तो आऊँ । वह उठ खड़ी हुई । मीना को मास के पास छोड़कर शीघ्र ही दिवाकर के कमरे की ओर बढ़ी । हृदय धक-धक कर रहा था, फिर भी धीरे से भाँककर देखा कि कमरे में कोई नहीं है । साहस हुआ और भीतर चली गई । देखा कई वस्तुएँ नयी हैं । सभी में मीना का नाम है, साथ ही दिवाकर का भी । समझने में देर न लगी कि ये सभी वस्तुएँ उपहार में दी गई हैं ।

अपने बीते हुए दिन याद आए । लज्जा मालूम होने लगी । वह जमीन पर बैठ गई । पुरानी बातें एक एक कर स्मरण हो आईं । सोचते सोचते उसका हृदय भर आया । फिर उसने जोर से सिर हिलाया मानो उन स्मृतियों को हटा देना चाहती हो । परन्तु सफल न हो सकी । अपने बीते हुए दिन उसे छाया-चित्रों की तरह सामने ढीखने लगे—“प्यार ! मुझे भी तो कभी मिला ही था । पर अब... . ? प्यार नहीं था, वह तो मेरा उपहास



था; या था वासना का आकर्षण—प्यार होता तो अब कहाँ जाता ?  
वे भूल गए, पर मैं नहीं भूल सकती. .... ।”

रेणु ने एक बार फिर साहस किया । मुसकराने का प्रयत्न किया, होंठ हिले । आँखें डब-डबा आईं और दो आँसू कपोलों पर गिर पड़े । रेणु अपने कमरे में लौट फूट-फूट कर रोने लगी ।

( ५ )

दिवाकर के लिये संसार ‘मीनामय’ हो गया । जिस प्रकार रेणु के साथ यौवन के प्रथम दिवस बीते थे, उससे भी अधिक उत्साह से अब मीना से ‘प्रेमक्रीड़ा’ हो रही थी ।

“वास्तव में प्रेम किसे कहते हैं, यह दिवाकर ऐसे पुरुष नहीं जानते । मीना कभी-कभी उद्भ्रान्त सी हो उठती थी । वह सोचती थी कि ‘एक म्यान में दो तलवार ।’ एक बार उसने पति से पूछा,

“जितना प्यार तुम मुझे करते हो उतना और भी किसी को करते हो ?”

“ना” दिवाकर ने कुछ गम्भीर होकर कहा ।

“दीदी को ?” मीना ने फिर पूछा ।

“हाँ पहले किया था. ....” रुककर दिवाकर ने कहा ।

“अब ?”

“पगली हो गई हो क्या ? आज यह सब क्यों पूछती हो ?”

“यहाँ सोचती हूँ कि इतनी उपेक्षा को वीदी कैसे सह लेती हैं। मैं तो एक दिन भी ऐसे न रह सकूँगी।”

मीना ने बड़े गर्व से कहा और फिर चुप हो गई।

दिवाकर ने कुछ रुखाई से कहा,

“मैं सोचता हूँ कि रेणु अपने मायके चली जाती तो अच्छा था, परन्तु वह भी हठी है। दूसरे का सुख-दुःख नहीं देखती। क्या करूँ। मेरी तो समझ में ही नहीं आता।”

रेणु ने रात के सन्नाटे में ये सभी बातें सुनीं।

आह! बन्ध्या का जीवन क्या इतना उपेक्षित है? मेरा तो कुछ भी अपराध नहीं। यदि सन्तान न हुई तो मैं क्या करूँ?

असहाय हृदय रोने के सिवा और कुछ नहीं जानता। रेणु की आँखों से बरबस आँसू की झड़ी लग गई। वह भगवान से प्रार्थना करने लगी। न जाने वह कितनी देर उसी अवस्था में रही। जब उसे ज्ञान हुआ तो चित्त कुछ हलका था। आँखें सूख गई थीं, अंचल भीगा हुआ था। ऊषा की ललाई फैल रही थी। रेणु कुछ स्वस्थ हुई। उसने माँ के पास जाने का निश्चय कर लिया। चिट्ठी भी भेज दी कि ‘भाई को भेज दो मैं आऊँगी’

यथासमय भाई आया और रेणु जाने की तैयारी करने लगी।

दूसरे ही दिन सास-ससुर को प्रणाम कर मीना को हृदय से लगा पति को मन ही मन प्रेम करके रेणु चलने को उद्यत हुई। जाने से पहले उसने दिवाकर को एक पत्र लिखने की सोची।

लिखने बैठी, बिना संबोधन के ही एकदम लिखना शुरू कर दिया—

“तुम्हारी इच्छा थी कि मैं चली जाऊँ, इसी लिए जा रही हूँ। मेरी इच्छा नहीं थी परन्तु तुम्हें कष्ट होता है इसी से जा रही हूँ, एक बार तुम्हें जी भरकर प्यार कर चुकी हूँ। अब भूल नहीं सकती। तुम्हें जैसे भी सुख मिले वही करूँगी। परमात्मा तुम्हें सुखी रखे। अधिक कुछ नहीं।”

‘रेणु’

( ६ )

दो वर्ष बाद—

रेणु को एक दिन सास की चिट्ठी मिली, उसमें लिखा था कि मीना के पुत्र हुआ है और वह बहुत बीमार है। बच्चे का पालन अच्छी तरह नहीं हो रहा है इत्यादि। पत्र पढ़कर रेणु का नारी-स्वभाव जाग उठा। मातृ-भावना से हृदय भर आया। वह रोने लगी।

आँसू शायद स्त्रियों को ही अधिक प्यार करते हैं, क्योंकि नारी-हृदय कोमल है, आँसू सुकुमार हैं, इसी से इतनी घनिष्टता है। परस्पर समानता ही इसका कारण है। रेणु ने माता पिता से बिदा लेकर फिर ससुराल के लिये प्रस्थान किया। हृदय के एक कोने में शिशु की उज्ज्वल आत्मा ने घर बना लिया है, यह रेणु

न जान सकी। पर उसे अपने अन्दर कुछ परिवर्तन मालूम होने लगा।

वह सोच रही थी कि एक दिन भी बिना सोचे क्यों चली आई ? ऐसा कौन सा ममत्व है जो उसे फिर उसी उपेक्षित स्थान पर लौटा लाया ? अपमान की चिन्ता नहीं, उपेक्षा की परवाह नहीं, मन में तनिक भी अभिमान नहीं। यह सब क्यों ? अब तो हृदय में पति का प्रेम भी नहीं। फिर यह कौन सा आनन्द है ?

इन्ही भावनाओं से उलझते हुए रेणु ने घर में प्रवेश कर मास-ससुर को प्रणाम किया। सास ने गले लगाया, आँसू बहाए। पर रेणु चुप रही। फिर उसने मीना के कमरे में जाकर देखा, देखकर अवाक रह गई। यह क्या ? मीना की वह भरी हुई देह इम कंकाल रूप में। उसका हृदय भर आया। धीरे-धीरे पास जाकर पुकारा—

“मीना।”

“हूँ” क्षीण स्वर से उत्तर मिला।

“कैसी हो ?” रेणु ने फिर पूछा।

अब मीना अपने को न सँभाल सकी, रो पड़ी। तब रेणु ने उसे धीरज देते हुए कहा, “मुन्ना कहाँ है ?”

मीना ने कहा “दीदी, उसे धाय को सौंप दिया है।”

रेणु ने उदास होकर कहा, “मैं उसे देखना चाहती थी। मीना, क्या तू उसे बुला न सकेगी ?”

“सिर्फ देखना ही चाहती हो दीदी ?” मीना ने भरे गले से पूछा ।

“.....” रेणु चुप रही ।

“चुप क्यों हो दीदी ? मैं तो समझती थी कि तुम्हें उसे सौंप जाऊँ । नहीं तो मैं सुख से न मर सकूँगी ।” कहते-कहते मीना फिर रोने लगी ।

“चुप पगली । रोती है । छी: वह क्या मेरा बच्चा नहीं है ?” यह कहते हुए रेणु का मातृत्व उसके चेहरे पर झलक पड़ा ।

( ७ )

धीरे-धीरे मीना रोग-मुक्त होने लगी, शिशु भी बढ़ने लगा । दिवाकर ने देखा कि रेणु के परिश्रम का ही यह फल है । जो कभी उसके लिये भार स्वरूप बन गई थी, वह शायद आज दिवाकर का भार उतार रही थी ।

रेणु का जीवन शिशुमय हो गया । उसका बन्ध्यापन मातृ-रूप में परिणत हो गया । जब वह गई थी तब बन्ध्या थी । लौटने पर वह माता है । तब वह स्वामी का प्रेम चाहती थी, भव्यं प्यार करती थी, पर अब उसके मन में पति की भक्ति है, चाह कुछ भी नहीं । हृदय में वात्सल्य है, चेहरे पर मातृत्व । शायद यही नारी-जीवन की सार्थकता है ।

एक दिन मीना ने रेणु से कहा, “तुम तो दीदी, मुन्ना के पीछे पागल हो गई हो, भला बताओ तो सही कि क्यों तुम इसे इतना प्यार करती हो ?”

रेणु ने कहा, “मीना ! माता होकर भी तुझमें मातृत्व नहीं आया, नहीं तो तू मुझसे गेमा न पूछती । नारी के लिये बच्चों को प्यार करना उतना आश्चर्यजनक नहीं है जितना कि प्यार न करना । स्त्री की रग-रग में मातृत्व है । तू शायद मुझे बन्ध्या समझ कर कहती है कि मुझमें मातृत्व कैसे आया ? परन्तु सन्तान न होने से भी नारी मातृत्व पद से वंचित नहीं है । यही तो इसका जन्मसिद्ध अधिकार है जिसे पुरुष नहीं छीन सकते । नारी-जाति को माता के दूध के साथ ही मातृत्व का महत्त्व ज्ञात हो जाता है ।” कहते कहते रेणु ने शिशु को गोद में उठाकर उसका मुख चूम लिया । शिशु मुसकग पड़ा । मानो वह सब समझ गया हो । रेणु की आँखों में बरबस मांती बरस पड़े ।

नैनीताल  
मई, १९३४

}

‘जल में मीन पियायी’







जल मे मीन पियासी—मोहे सुनि-सुनि आवै हॉसी ।  
उपर्युक्त गीत गुनगुनाते हुए विभा ने देखा कि  
उसकी भावज उसके पीछे खड़ी बड़ी तन्मयता से  
गाना सुन रही है । विभा ने गाना बन्दकर मुसकराते हुए पूछा ।

“ भाभी, तुम यहाँ कब से खड़ी हो ? ”

“ अभी तो आई हूँ, ” रानी ने लज्जा से उत्तर दिया ।

“ सच कहती हो ? ”

“ चुप क्यों हो ? ”

“ क्या जल मे मीन प्यासी नहीं रह सकती ? ”

“ तुम्हीं जानो भाभी, मैं तो केवल गुन-गुना रही थी । ”

“ हूँ ” कहकर रानी एक ओर को चली गई ।

×

×

×

×

( २ )

रानी वैभव पाकर भी सुखी नहीं थी, सांसारिक सुख के सभी साधन पाकर भी वह दुःखी थी। वह सदा उदास रहती थी। एक वेदना—एक आकुलता—सदा उसके हृदय में समाई रहती थी। यह क्यों ? इसे वह स्वयं नहीं जानती थी। उससे किसी को यदि सहानुभूति थी तो विभा को। उसी के सामने वह अपने दिल के फफोले फोड़ा करती।

मनुष्य का सुख संतोष में है। रानी को संतोष नहीं था। मुक्ताकाश में उड़ने वाला पक्षी यदि पिजरे में बन्द किया जाय तो क्या वह सुखी रह सकेगा ? भले ही उसे सोने का पिजरा बना दो, वैभव लुटा दो। इससे क्या ? वैभव में सुख नहीं है, सुख है आत्मवृत्ति में, शान्ति में, और लगन में।

×                    ×                    ×                    ×

( ३ )

रामप्रसाद शहर के एक नामी वकील थे। घर में माता, पत्नी (रानी) और कुमारी बहिन विभा के साथ आराम से जिंदगी बसर करते थे। उनकी दृष्टि में स्त्री केवल भोग-विलास की वस्तु थी। उनका विश्वास था कि स्त्री को विलासिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए, किन्तु दुर्भाग्य या सौभाग्य से उनकी पत्नी की

बयासी

प्रकृति बड़ी भावुक थी। प्रेम के लिये वह अपने आपको उत्सर्ग कर सकती थी। सदाचार से उसे प्यार था। उसकी दृष्टि में वैभव विलास का साधन मात्र था। हृदय में कोमल भावनाओं को लिये जब उसने स्वामी के गृह में पैर रखा, अनेक प्रकार की आशा-अभिलाषाएँ लेकर वह जब पति के हृदय में प्रवेश करने को आगे बढ़ी तब उसे मालूम हुआ कि कोमल भावनाएँ कुचल गई हैं, हृदय-मन्दिर का द्वार बन्द है, वह हताश हो गई। रो पड़ी। आह नारी, तेरा हृदय क्यों इतना कोमल है।

× × × ×

( ४ )

हिन्दू ललना के लिये पतिप्रेम से वंचित होना कष्टप्रद होते हुए भी एक साधारण सी बात है। क्योंकि समाज का यही नियम है। दुखिया के आँसुओं से समाज का हृदय शीतल होता है।

हाँ तो, वर्कल की पत्नी होने पर भी रानी सुखी न थी। वह सोचती कि यदि मैं एक गरीब किसान के घर होती....., अथवा स्वतन्त्र रहकर जीविका चलाती, तब शायद अधिक सुखी रहती। पर कौन जाने ? यहाँ मेरे स्वामी हैं, सास है और ननद है, धन है और वैभव है। सुख के सभी साधन उपस्थित हैं; परन्तु प्रेम नहीं, सुख नहीं, संतोष नहीं, शान्ति नहीं। शायद मेरे भाल पर विधि ने सुख लिखा ही नहीं। शान्ति, संभव है, मेरे लिये नहीं है।

तिरासी

उसे याद आया कि प्यार—प्रिय का प्यार—मुझे मिला ही नहीं। एक बार भी तो 'वे' मुझे देखकर मुसकुराये नहीं। एक दिन भी तो नहीं पूछा कि 'कैसी हो?' रोज ऐसा ही जताते हैं मानो मैं उनके लिये बोर हूँ। अभी थोड़े दिनों की तो बात है जब 'वे' काश्मीर जाने लगे तो मैंने भी साथ ले चलने को कहा। किन्तु उत्तर मिला 'दोस्तों के साथ जा रहा हूँ।' कितना रूखा उत्तर है। यह भी नहीं कहा कि 'नहीं ले जाता।' मानो संक्षेप में ही बोलने की प्रतिज्ञा कर ली हो।

सोचते-सोचते रानी अधीर हो घुटनों में मुँह छिपा सिसक सिसक कर रोने लगी। उसे नहीं मालूम कि कब से विभा खड़ी है। रानी को रोते देखकर विभा ने उसका शिर अपने हृदय से लगा लिया। रानी और जोर से रो उठी।

× × × ×

( ५ )

जिस प्रकार डूबते हुए को तिनके का सहारा होता है उसी तरह रानी को विभा का सहारा था। माँ और भाई के अत्याचार का निवारण विभा के अतिरिक्त और कौन करता? किन्तु अभी संसार का पूरा ज्ञान न होने से विभा रानी के दुःख का कारण अच्छी तरह न समझ पाती थी। उसे यह भी नहीं मालूम था कि

चौरासी

भाभी को क्या कष्ट है। हाँ इतना वह अवश्य जानती थी कि भाभी उसे प्यार करती है। इसी से शायद वह अनजान में भाभी का कष्ट दूर किया करती थी। रानी को अकेले बैठे देखकर वह उससे लिपट जाती, उसे रोते देखकर अवाक रह जाती थी और उसके दुःख-सुख को, उसकी गूढ़ बातों को सुना करती थी। सम्भव्यस्क न होने पर भी रानी और विभा की मित्रता में कोई रुकावट न थी।

रानी यदि चाहती तो सदा के लिये इस घर से, पति से, समस्त वैभव से बिदा ले सकती थी—स्वतन्त्र रह सकती थी, किन्तु ऐसा करने से घर की मर्यादा में बट्टा लगता था। कई बार उस 'मर्यादा' का 'मोह' छोड़ने को उद्यत हुई, परन्तु विभा का प्रेम वह न छोड़ सकी। चाहे कितना ही कष्ट हो फिर भी कुछ स्नेह तो है।

दस-ग्यारह वर्ष की बालिका जब स्कूल से आकर 'भाभी' कहकर पुकारेगी और भाभी को न पाकर उदास मन से चुप हो रहेगी तब बहुत दूर पर रानी की आत्मा भी रो पड़ेगी। रानी ने कई बार परीक्षा कर ली थी, किन्तु विभा को छोड़ना उसके लिये संभव न दीखा। नन्ही सी आत्मा ने रानी को चारों ओर से जकड़ लिया था।

X                      X                      X                      X

परिवर्तन ही संसार का नियम है। प्रकट या अप्रकट रूप में प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है। धीरे-धीरे विभा सयानी हुई, स्कूल से कॉलेज में दाखिल हुई। अब उसे भाभी से अधिक अपनी सखियों का ध्यान रहने लगा। परन्तु फिर भी वह भाभी को प्यार करती थी। रानी बाल्य-हृदय खोकर सुखी न थी—उसे भोली नन्द का समझदार होना बड़ा अखर रहा था, पर विवश थी। प्रकृति के अटल नियम को कौन टाल सकता है ?

एक दिन रामप्रसाद और रानी में कुछ कहा-सुनी हो गई। रानी का दुःखी हृदय भर गया वह भी कुछ कह बैठी। माता ने पुत्र का पक्ष लिया, लेकिन विभा के बल पर रानी अपने को आज बलवान समझकर उत्तर प्रत्युत्तर करने लगी। विभा के लौटने पर उसे कुछ आशा हुई; परन्तु यह क्या ? विभा ने आज भाभी को खूब खरी खोटी सुनाई और स्पष्ट कह बैठी “ तुम्हारे मारे परेशान हूँ। अच्छा हो यदि तुम अपने मा-बाप के पास चली जाओ। ” रानी चुप थी, अवाक् थी और निर्जीव की भाँति विभा का मुँह ताक रही थी। मानो उसकी सूखी हुई आँखें कह रही हों, ‘ क्या यही तुम्हारा प्रेम है ? तुम्हारे लिये मैं सब कुछ भूली थी उसका क्या यही परिणाम है ? कभी इस पर विचार तो करना। ’ उस दृष्टि में जाने क्या था। विभा अधिक देर वहाँ न ठहर सकी। रानी भी मन्थर गति से चल दी और अपनी कोठरी में जाकर उसने अन्दर से किवाड़ बन्द कर लिये।

रातभर विभा को नींद नहीं आई। पश्चात्ताप से उसका हृदय भर गया। फिर रानी की वह दृष्टि उसे याद आई। मूक होते हुए भी वह दृष्टि कितनी भयंकर थी! विभा ने आँखें जोर से बन्द कर लीं, किन्तु वह दृष्टि उसके हृदय से न हटी। दिल धड़कने लगा। फिर उसने निश्चय किया कि प्रातःकाल होते ही भाभी से क्षमा माँग लूँगी। तब उसे कुछ शान्ति मिली। उसे अपनी माता पर, भाई पर और अपने आप पर क्रोध आ गया। छिः यह भी कोई मनुष्यत्व है! पराई बेटी को इस प्रकार अपमानित करना। कोई भी तो भाभी से सीधे मुँह नहीं बोलता। मनुष्य ही तो है कब तक सहे। मैंने भी आज कितना बुरा किया। प्रभो, इस अपराध को क्षमा करो और भाभी को सुखी बनाओ .....

सोचते-सोचते जाने कब विभा को नींद आ गई। उसकी चिन्ता मिट गई।

×                      ×                      ×                      ×

( ७ )

प्रातःकाल उठने पर विभा ने देखा कि दिन चढ़ आया है। सूर्य की चमकती हुई किरणों खिड़की से कमरे में भौंक रही है। रात को बहुत देर तक जागने से आलस्य ने उसे घेर लिया। करबट बदली तो सामने देखा मेज पर एक बन्द लिफाफा रखा है। हस्ताक्षरों से पता चला कि रानी के हैं। विभा चौंक पड़ी।

सत्तासी

आत्स्य भाग गया। लपककर लिफाफा उठा लिया। क्षण भर मौन रही। कितनी ही कल्पनाएँ कीं। फिर पत्र खोलकर पढ़ने लगी। पत्र में लिखा था—

“ मेरी प्यारी बहिन,

“ आज के व्यवहार से मेरा दिल दूट गया। मैं स्वयं दोषी हूँ यह स्वीकार करते हुए तनिक भी लज्जा नहीं है। माता जी के, स्वामी के और तुम्हारे आगे मैं अपराधिनी हूँ। मैं अभागिनी किसी को भी सुखी न कर पाई प्रत्युत मेरे ही कारण सब दुःखी हैं, असंतुष्ट हैं। दिन दिन बात बिगड़ती जा रही है। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि सभी को खुश कर सकूँ। परन्तु यह मेरे हाथ में नहीं था। सोचती थी कि तुम तो मुझे प्यार करती हो। परन्तु मैं अभागिनी तुम्हारे प्यार को भी न पा सकी। तुम भी शायद मुझसे घृणा करने लगी हो। मेरी वर्षों की तपस्या और अभिमान तुमने कल चूर-चूर कर दिया।

“ विभा, तुम चाहती हो कि मैं अपने माँ-बाप के पास चली जाऊँ। पर यह मुझसे नहीं हो सकेगा बहिन। इसके लिये मैं तुमसे क्षमा चाहती हूँ। अन्त समय तुम्हारी आज्ञा का पालन न कर सकी इसका अरमान दिल पर लिये जा रही हूँ। मेरे माता-पिता गरीब हैं। उनके शिरपर व्यर्थ का बोझ लादना कहाँ की बुद्धिमानी है। फिर उन लोगों का मुझ पर बड़ा दुलार है। मुझे दुःखी देखकर वे भी दुःखी हो जावेंगे। इसी हेतु मैं उनके पास नहीं जा रही हूँ। किन्तु तुम्हारे निकट से मैं बहुत दूर

जडासी



चली जाऊँगी। मैं आशा करती हूँ कि मेरे जाने से तुम लोग सुखी रह सकोगे।

“मैं बड़ी अभागिनी निकली बहिन। सुन्दर और स्वस्थ पति पाकर धन-वैभव और तुम्हारे समान बहिन को पाकर भी मैं सुखी न रह सकी। जल में रहकर भी प्यास न बुझी, तृप्ति न हुई। देखूँ, अब क्या होता है। जिस समय यह पत्र तुम्हें मिलेगा उससे बहुत पहले मैं इस दुनिया से बिदा हो चुकूँगी। मैंने उस लोक की बड़ी मधुर कल्पना कर रखी है। अब उसी माधुर्य को चखने जा रही हूँ। मेरी कल्पना भले ही निस्सार हो आखिर है तो कल्पना ही। बहुत प्रयत्न किया इस संसार में सुखी रह सकूँ—कुछ तो सुख का अनुभव करूँ; परन्तु यह सब मेरे लिये नहीं बना है।

“आज मैं मुक्त हूँ। मुक्ति ही मेरा लक्ष्य है। मैं इस पिंजरै में बहुत छटपटाई। अब उड़ने के लिये मेरे पंख फड़फड़ा रहे हैं। कौन जानता है कि मुक्ति के लालच से मेरी आत्मा का बन्धन और भी मजबूत होता जा रहा हो। किन्तु लालच भी तो मुक्ति का है। साधना मुक्ति की है, लक्ष्य भी मुक्ति है, तब मुझे क्या मुक्ति न मिलेगी? मेरे प्राण तड़प रहे हैं मुक्ति के लिये। मेरे चारों ओर से आवाज आ रही है ‘मुक्ति’, आकाश में पूर्णिमा का चाँद हँसकर कह रहा है ‘मुक्ति’। इतने दिनों से मैं दुःखी थी, व्याकुल थी। आज मानो समस्त शोक, चिन्ता, व्याकुलता सभी मुक्त है, क्योंकि मैं मुक्त हूँ। मैं आज सुखी हूँ—बहुत ही अधिक

सुखी । मृत्यु की कल्पना से दुःख होता है, मुक्ति से नहीं । मैं मरने नहीं जा रही हूँ, बन्दी-जीवन से छूटकर आज मुझे मुक्ति मिलेगी । बस बहिन, मेरी प्यारी बहिन, अब प्रातः की ठंढी हवा चलने लगी है । पक्षीगण भी मुक्ति का संगीत सुना रहे हैं । मैं भी विदा होती हूँ, माताजी और स्वामी से क्षमा माँगती हुई । पत्र बहुत लम्बा हो गया है । क्षमा करना ।

“ तुम एक गीत गाया करती थी, याद होगा—

‘ जल में मीन पियासी, मोहे सुनि-सुनि आवै हँसी । ’

“ आज तुम—मेरे इस जीवन से—इसकी सत्यता का अनुभव कर सकोगी । जब-जब तुम इस गान को गाओ तब-तब क्षणभर के लिए कम से कम इस अभागिनी भाभी को अवश्य याद कर लेना । संभव है इससे मेरी भटकी हुई आत्मा को पलभर के लिये शान्ति मिले ।

“ अच्छा, प्रणाम । समस्त विश्व को प्रणाम ।

तुम्हारी अभागिनी भाभी,  
‘ रानी ’ ”

×                      ×                      ×                      ×

पत्र पढ़कर विभा की आँखों से आँसू टपकने लगे । हृदय में बार-बार वही गीत याद पड़ने लगा—

‘ जल में मीन पियासी । ’

नैनीताल  
जून, १९३५

}

सौन्दर्य



( १ )



“ तुम बहुत सुन्दर हो शीला । ”  
“ और तुम ? ” शीला ने मुसकराते हुए पूछा ।  
“ मैं ? मैं तो बिलकुल भी सुन्दर नहीं हूँ ।  
मेरे साथ बैठ जाओ तो मालूम होता है कि हृत्शी के साथ परी । ”  
अनूप ने हँसकर कहा ।

“ पुरुष का सौन्दर्य यही है ” शीला ने गर्व से कहा ।  
“ अच्छा, तो यदि मैं दुबला-पतला हो जाऊँ तो तुम मुझे  
प्यार न करोगी ? मगर मेरा रंग भी तो एकदम आबनूस . । ”  
शीला ने बात काटकर कहा “ तुम्हें न जाने रोज यह क्या  
रोग हो गया है । तुम जैसे भी हो और जैसे भी होंगे इससे  
क्या ? प्यार रूप पर नहीं हृदय पर होता है, समझे सरकार ? ”

तिरानवे

अनूप ने कुछ सोचकर कहा—

“अगर तुमसे कहा जाता कि अपनी पसन्द का ढूँढ़ लो, पसन्द कर लो, तब शादी होगी तो तुम क्या करती ? रूप ही पहले देखती न ?”

“कभी नहीं,” शीला ने दृढ़ता से कहा ।

“तब क्या करती ?” अनूप ने हठ करके पूछा ।

“जब तक हृदय न परख लेती तब तक व्याह नहीं करती । जब इतनी स्वतन्त्रता मुझे मिल जाती तो यही करती ।”

अनूप चुप रहे ।

अचानक शीला पूछ बैठी, “अच्छा अब तुम बताओ यदि मुझे भयानक चेचक निकल जावेँ और मैं बदसूरत हो जाऊँ तो तुम क्या करोगे ?”

यह सुनते ही अनूप का चेहरा उतर गया, तुरन्त ही अपनी निर्बलता छिपाते हुए बोले, “मैं. .मैं भी तुम्हें हॉं. .इतना ही . . . न . ., हॉं . प्यार करूँगा ।”

अब के शीला जोर से हँस पड़ी, हँसते-हँसते बोली, “पकड़े गए । देखो कैसी युक्ति निकाली, अब चुप हो गए न ?”

( २ )

अनूप कुमार की शादी हुए अभी थोड़े ही दिन हुए थे । माँ बाप, भाई-बहिन कोई भी नहीं था ननिहाल से शिक्षा पाई थी ।

चौरानबे

भाग्य से पत्नी खूब सुन्दरी और शिक्षिता मिल गई थी। कानून की परीक्षा पास करके पत्नी को गाँव से ले आए थे और इलाहाबाद में प्रैक्टिस शुरू कर चुके थे।

सिवा शीला के और उन्हें कोई प्रिय न था। शीला बड़ी सुन्दरी थी! रूप पर प्रेम होना कोई अन्याय नहीं है, अत्याचार भी नहीं है। परन्तु शायद स्थायी नहीं। किसी सुन्दर फूल को देखकर हम सहसा कह उठते हैं 'वाह! बड़ा सुन्दर है।' रूप स्थायी नहीं है, इसी हेतु रूप का प्रेम भी अस्थायी है।

शीला और अनूप बड़े सुख से जीवन व्यतीत कर रहे थे। सांसारिक सुख उन्हें प्राप्त था। अधिक की उन्हें चाह भी नहीं थी। इसी से शान्तिपूर्वक जीवन-यात्रा कर रहे थे। इधर उधर सैर करने जाते तो साथ ही, सिनेमा थियेटर जाते तो साथ ही। हाँ, जब अनूप कचहरी जाते तब शीला घर में अकेली रह जाती। वह कभी घर का काम करती और कभी अपनी सखियों के साथ चली जाती। यह छोटी सी गृहस्थी सुखी थी, शान्तिमय थी।

( ३ )

एक दिन अनूप ने कचहरी से लौटकर कहा, "चलो न शीला, आज तुम्हें अपने एक दोस्त के यहाँ ले चलूँगा, वहाँ से फिर साथ ही सिनेमा चलेंगे, बड़ी अच्छी पिक्चर आई है।"

“कौन से दोस्त हैं ? क्या नाम है ? यहाँ तो कभी नहीं आये ।” शीला ने कुछ अप्रतिभ होकर पूछा ।

“अरे, वही रामस्वरूप, आगरे से आए हैं । उनकी पत्नी भी आई है, मगर बड़ी बदसूरत है, मुझे तो देखकर ही चिढ़ लगती है... और... ।”

शीला ने जोर से अनूप का मुँह बन्द करके कहा, “फिर वही राग । जब देखो तभी खूबसूरत और बदसूरत ! तुम्हे और कुछ भी नहीं सूझता क्या ? जाओ, मैं नहीं चलूँगी । अब से ऐसी बातें करोगे तो मैं बोलूँगी भी नहीं ।”

अनूप ने गम्भीर बनकर कहा, “अच्छा आगे से न कहूँगा, मगर अभी तो कहने दो । तुमको चलना ही पड़ेगा । अगर तुम न चलोगी तो मैं भी न जा सकूँगा ।”

“तुम जाओ, तुम्हे कौन मना करता है,” शीला ने क्रोध का भाव दिखाकर कहा ।

“मगर तुम्हारे नाराज होने की तो कोई बात ही नहीं है । तुम्हे तो मैंने बदसूरत कहा नहीं । तुम तो बड़ी सुन्दरी हो, फिर दूसरों से कहने में तुम क्यों चिढ़ती हो ? जो जैसा होगा कहा ही जायगा, क्यों ?”

इस बार शीला की आँखें डबडबा आईं । अनूप ने देखा शीला रो देगी तो बड़े लज्जित हुए । धीरे से बोले, “शीला, अब न कहूँगा, इस बार क्षमा कर दो ।”

शीला जोर से रोने लगी ।



“माफ न करोगा शीला ? ”

उत्तर में आँसू ।

कुछ उत्तर न पाकर अनूप स्वयं भी रोने लगे । उन्हें रोते देख कर शीला के आँसू रुक गए, उसने पास जाकर कहा, “मुझे माफ करो ” अनूप ने शीला को पास खींच लिया ।

उस दिन फिर वे दोनों कहीं न जा सके ।

इस तरह के अभिनय से शायद प्रेम में वृद्धि होती है ।

( ४ )

और एक दिन—

शीला की माता ने बुलाने के लिये आदमी भेजा । अनूप ने कचहरी से लौट कर देखा कि शीला जाने की तैयारी में है । कलेजा धड़कने लगा—बोले, “यह क्या हो रहा है ? ”

“अम्मा ने बुलाया है । पन्द्रह रोज में लौट आऊँगी । ”  
शीला ने उत्सुकता से कहा ।

“मुझे छोड़ जाओगी ? ”

“पन्द्रह दिन के लिए ही तो..... ”

“जो मैं न जाने दूँ तो ? ” अधिकार के स्वर में अनूप ने कहा ।

“बहुत दिन हो गए हैं । यहाँ से लखनऊ इतने पास होते हुए भी, जाने दो आज, अच्छा, आठ दिन में लौट आऊँगी । ”

सत्तानबे

“तुम चली जाओगी तो मैं कैसे रहूँगा ?”

“छिः मर्द होकर ऐसी बातें करते हो।” शीला ने हँस कर कहा।

“मर्दों के क्या दिल नहीं होता, क्या विरह उन्हें नहीं सताता ?”

शीला जोर से हँस पड़ी।

“तो न जाने दोगे ?” शीला ने पूछा।

“साथ ही चलेंगे।”

“साथ ही ?” आश्चर्य से शीला अनूप का मुँह देखने लगी।

“क्यों कुछ हर्ज है क्या ?”

“नहीं। तो क्या तुम्हें समय मिलेगा ?”

“समय निकालना पड़ेगा।”

“तो कब चलोगे ?”

“परसों” कहकर अनूप बाहर चले गए।

कहना नहीं होगा कि ३ दिन बाद अनूप शीला को लेकर लखनऊ गए और आठ दिन के बदले छः दिन में ही लौट आए। उन लोगों ने बहुत रोका परन्तु अनूप किसी तरह राजी न हुए।

( ५ )

सबके दिन सदा एक से नहीं रहते। कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही है। परन्तु सुख में मनुष्य अन्धा हो जाता है। भविष्य में क्या होगा ? यह कोई भी नहीं जान पाता।

अट्टानबे

एक दिन शीला को एकाएक बुखार चढ़ आया। अनूप ने घर आकर देखा शीला बुखार के मारे बेहोश है। घबराये हुए डाक्टर को बुलाने गए। डाक्टर ने आकर देखा। गम्भीर हो गए। निदान किया, “चेचक निकलेगी, सावधान रहिएगा।” अनूप का चेहरा फक् से हो गया। डाक्टर ने समझा मृत्यु की छाया से घबड़ा गए हैं, धैर्य देते हुए बोले, “कोई फिकर की बात नहीं है, ठीक हो जायेंगी।”

परन्तु इन शब्दों से अनूप को संतोष न हुआ। फीस देकर डाक्टर को बिदा कर दिया। घर में आकर शीला के सिरहाने जा बैठे और खूब रोए। जी भरकर उसके सौन्दर्य को देखा। बुखार की गर्मी से चेहरा लाल हो रहा था।

## ( ६ )

कई दिन तक शीला बेहोश पड़ी रही। उसके सारे बदन में भयानक रूप से चेचक हो गई। अच्छे प्रकार सेवा हो जाने से बच गई। शीला की माता ने रात दिन परिश्रम करके कन्या को बचा लिया। अनूप को इतने दिनों तक अन्दर न जाने दिया। जब शीला कुछ अच्छी हो गई तो अनूप को बुला भेजा। अनूप का हृदय धड़कने लगा। तरह तरह के विचार उन्हे विक्षिप्त सा करने लगे। कमरे में पहुँचते ही देखा शीला अब वह सौन्दर्य की प्रतिमा शीला नहीं है। एकदम ऐसा परिवर्तन।

हे भगवन्, अनूप ने आँखें बन्द कर ली। उनसे शीला का वह विकृत रूप देखा न गया। साहस करके पास पहुँचे। बोल न सके। नीची दृष्टि किये ही पूछा, “कैसी हो शीला ?” और रोने लगे। “अब तो अच्छी हूँ। रोते क्यों हो। अब तो मैं बच गई।”

परन्तु अनूप ने कुछ उत्तर न दिया। माल्हूम नहीं यह रोना शीला के बचने की खुशी का था या दुःख का।

अनूप को अपने जीवन से विरक्ति हो गई। उनके हृदय की समस्त आशाओं पर पानी फिर गया। उनके सौन्दर्य की प्रतिमा टूट गई। जिस प्रकार किसी खंडहर को देखकर यह अनुमान लगाना कठिन है कि पहले इसमें कितनी सुन्दरता थी, उसी प्रकार शीला को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि यह वही शीला है। अनूप का दिल टूट गया।

( ७ )

शीला अब अच्छी हो गई; किन्तु कमजोरी अभी बहुत थी। वह सदा ही उदास रहने लगी। अनूप की खिन्नता शीला से छिपी न रही। घर में रहना अनूप के लिए मुश्किल सा हो गया। प्रायः घर से बाहर ही वह रहने लगा। शीला को सिवा रोने के और कुछ नहीं सूझता था। कई तरह की दवाएँ उसने मँगाईं कि उसकी

सुरत फिर पहले की तरह हो जाय, मगर कुछ न हुआ । नाक इतनी बैठ गई थी कि उसे देखकर स्वयं आश्चर्य्य होता था । सिवा भाग्य के इसमें और किसी का भी दोष न था ।

शीला लाचार थी, विवश थी, वह क्या करे । वह स्वयं ही अनूप से बचकर रहने लगी । अनूप के सामने जाते ही वह लज्जा से मुँह छिपा लेती थी । अनूप ने भी कभी कुछ नहीं कहा । शीला सोचती कि अनूप यदि सान्त्वना देते तो.....परन्तु स्वयं लाचार थे ।

कई बार अनूप ने सोचा भी था कि 'शीला का क्या कसूर । उसका हृदय तो पहले जैसा ही है । मैं क्यों उसे प्रेम नहीं करता ? ' किन्तु सामने जाते ही ये विचार हवा हो जाते थे ।

शीला ने डरते डरते एक दिन अनूप से लखनऊ जाने की आज्ञा माँगी । बिना इधर-उधर के ही अनूप राजी हो गए । शीला को पुराने दिन याद आए । आह करके रह गई और दूसरे ही दिन माता के साथ लखनऊ चल पड़ी ।

( ८ )

उस दिन अनूप ने निश्चिन्तता की साँस ली । शीला के साथ रहना उन्हें अब असाध्य जान पड़ा । शीला के चले जाने पर उन्होंने अपने को मुक्त सा पाया । अब उन्हें सिनेमा में शीला के साथ जाना अच्छा न लगता था और अपने दोस्तों को भी वे अब

एक सौ एक

जब हृदय में वह उमंग नहीं तो लिखे क्या । शीला का स्थान तो अब मदिरा सुन्दरी ने ले लिया था । यही तो परिवर्तन है । यही अदृष्ट है । एक दिन अनूप ने शराब के नशे में शीला को पत्र लिख दिया, “आओ ।”

चिट्ठी पाकर शीला एक दिन भी लखनऊ न रही । इलाहाबाद आकर उसने देखा घर में कोई नहीं था । घर की दशा किसी सराय से भी बुरी थी । सभी चीजें टूटी फूटी थीं, वह रोने लगी ।

फिर भी साहस करके उठी और घर को साफ करने में लग गई । आलमारी में देखा तो विश्वास न हुआ । कई शराब की खाली बोतलें थीं । शीला की आँखों में अँधेरा छा गया । हे ईश्वर ! कहकर वह धम से जमीन पर बैठ गई ।

रात को अनूप ने घर में आकर देखा शीला चुपचाप बैठी हुई रो रही है । अनूप ने लड़खड़ाती हुई आवाज में पूछा, “कौन ?”

शीला ने धीरे से उत्तर दिया “मैं हूँ शीला । आपने बुलाया था न, इसीसे आ गई हूँ ।”

“मैंने बुलाया था ? भूठ है !”

“नहीं भूठ नहीं बोलती” रोते रोते शीला बोली ।

“हूँ” कहकर अनूप दूसरे कमरे में चले गए ।

इसी तरह कई दिन बीत गए । अनूप के व्यवहार में कोई परिवर्तन न हुआ तो शीला को बहुत दुःख हुआ । उसने साहस करके अनूप को समझाना चाहा ; मगर अनूप कब सुनते । लाचार शीला ने अपनी माँ को लिखा । माँ समय-समय पर शीला को

सहायता पहुँचाने लगी। उसी से वह खाने-पीने का खर्च चलाने लगी। यही तो भाग्य का खेल है !

परन्तु शीला को इतने पर भी शान्ति न मिली। अनूप ने एक दिन सोचा कि 'शीला को तो मैं रुपये नहीं देता, फिर यह इतना खर्च कैसे कर लेती है ?' बस इतना सोचना था कि उनके पापी हृदय में यह निश्चय हो गया कि 'शीला व्यभिचारिणी है।'

यह विचार दिन प्रति दिन अनूप के हृदय में पक्का होता गया, बस, फिर क्या था "पहले मियाँ बावरे, तापर खाई भाँग।" जब देखो तभी शीला को मारने जाते थे। शीला के दुःखों का पारावार न था, ऐसे समय में उसे भगवान् के सिवा और किसी का भी सहारा न था।

पुरुषों द्वारा रचा गया यह समाज यदि स्त्रियों की इतनी अधिक बलि न ले लेता तो शायद इसकी नींव अधिक पक्की होती। हिन्दू-समाज ही हिन्दू स्त्रियों की उन्नति में बाधक है।

( १० )

शीला को किसी तरह सुख नहीं था, वह करे तो क्या करे। एक क्षण को अगर उसे शान्ति मिलती थी तो वह प्रार्थना करने से। जब चारों ओर का संसार में सहारा छिन जाता है तभी मनुष्य अन्धकार से घबड़ा कर पुकार उठता है, 'हे भगवन् !' यही पुकार सत्य होती है। भगवान् इसी को सुनते हैं। तभी उस भटकते

एक सौ चार

हुए प्राणी को प्रकाश की रेखा मिल जाती है। आत्मा शान्ति-लाभ करती है।

एक दिन शीला को बड़ी वेदना थी। उसका हृदय व्यथा से फटा जा रहा था। बहुत रो चुकी थी, अब आँसू भी सूख चले थे। वह बहुत कमजोर हो गई थी।

रात को जब चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। अँधेरी रात थी। शीला धीरे से उठी और कोठरी के अन्दर प्रदीप जला दिया। एक क्षण प्रकाश से कमरा भर गया।

सामने ही एक पत्थर की सुन्दर प्रतिमा रखी हुई थी, शीला घुटने टेक कर बैठ गई। थोड़ी ही देर में उसकी आँखों से आँसुओं की अविराम झड़ी लग गई। इतनी देर के लिये वह इस संसार से बहुत दूर, शायद 'उस पार' पहुँच गई थी।

×                    ×                    ×                    ×

अनूप ने लौटकर देखा शीला अपने कमरे में नहीं है तो उनका सारा शरीर क्रोध से जलने लगा, आज शीला की हत्या ही करने का विचार करके वे उस कमरे की ओर बढ़े जहाँ से प्रकाश आ रहा था। दरवाजे के पास पहुँच कर जो उन्होंने भीतर झाँका तो नशा एकदम हवा हो गया। फिर भी उन्होंने अपने विचार न छोड़े, "ढोंगी कही की, मिथ्याचारिणी" ये ही शब्द उनके कंठ तक आए, और वे शीला के सामने जा खड़े हुए। शीला की अब भी वही दशा थी, वही आँसुओं की झड़ी उसके मुँह पर से होती हुई जमीन तक भिगो रही थी।

एक सौ पाँच



अनूप निर्वाक, निस्पन्द । कुछ न कर सके, दो पग पीछे हट गए । उन्हे उस पवित्र आत्मा के सम्मुख जाते हुए डर मालूम होने लगा । खड़े-खड़े ही अनूप ने शीला के उस अनुपम सौन्दर्य का देखा जो आज तक कभी नहीं देखा था । बीमारी से पहले बाह्य सौन्दर्य पर वे मुग्ध थे; किन्तु उस सौन्दर्य के नष्ट हो जाने से उनका प्यार भी समाप्त हो गया था । परन्तु आज जो सौन्दर्य उन्होंने देखा, वह आत्मा का था; वह सत्य था, शिव था, सुन्दर था और अचर था । श्रद्धा से, भक्ति से और लज्जा से अनूप का माथा शीला के पैरों पर झुक गया । शीला ने चौंककर देखा और एक हल्की मुस्कान उसके अधरो पर बिखर गई । अनूप की आँखों से आँसू बहने लगे, पता नहीं ये आँसू हर्ष के थे या विषाद के; सन्तोष के थे या आत्म ग्लानि के ?

नैनीताल  
जुलाई १९३४ }

मीमी





मी ने जब से होश सँभाला तभी से वह अपनी कल्पना द्वारा भविष्य के सुन्दर सुन्दर चित्र बनाने लगी, भावुकता उसकी नस नस में भरी थी। माता बचपन ही में मर गई थी, घर में पिता के अतिरिक्त और कोई न था। मातृहीन कन्या का दुलार करने में पिता ने कोई कसर नहीं रखी, पिता के असीम वात्सल्य में भी उसे दिनरात एक अज्ञात वस्तु का अभाव सा खटकता रहता था। शायद वह वस्तु माता की स्मृति थी। पिता ने घर पर ही उसे स्वयं शिक्षा दी। धीरे धीरे वह बड़ी होने लगी, साथ ही जरूरत से ज्यादा भावुक हो गई। बहुत सी पुस्तकें उसने पढ़ डाली। उनमें उपन्यासों की संख्या ही अधिक थी। इसका परिणाम यह हुआ

एक सौ नौ

कि वह अपने को उपन्यास की नायिका ही समझने लगी। परन्तु, दुःखों को भुलाकर कष्टों का ध्यान भी न करके वह सुख की ही कल्पना में विभोर रहने लगी। उसने अपनी कल्पना के द्वारा एक ऐसा संसार निर्मित किया जहाँ न शोक था न कष्ट था। सर्वत्र प्रेम ही प्रेम था—द्वेष न था, घृणा भी नहीं थी। ऐसा था उसका संसार।

× × × ×

( २ )

“ मीमी ” पिता ने पुकारा।

“ आई पिताजी। ”

“ अरी बेटी, संध्या हो गई है। अभी तक कमरे में क्या कर रही हो ? ”

“ कुछ नहीं, ” कहकर मीमी बाहर आ गई। उसका मुँह कुछ उदास सा था। आकर वह पिता के समीप बैठ गई।

पिता ने उसे देखते ही चिन्तित होकर पूछा, “ जी कैसा है बेटी ? ”

मीमी ने और भी पिता के नजदीक खिसककर उनका हाथ अपने माथे पर रख लिया, माथा थोड़ा गरम हो रहा था। विकल होकर पिता ने फिर वही प्रश्न पूछा। वात्सल्य से गद्गद होकर

एक सौ दस

उन्होंने उसे अपनी गोद में ले लिया। मीमी ने उनके कोट के बटन से खेलते हुए पूछा।

“कहाँ घूमने न चलेंगे पिताजी ?”

“क्यों न चलेंगे, जहाँ तुम कहो।” पिता ने स्नेह के स्वर में कहा।

“दार्जिलिंग” मीमी ने उत्साह से कहा।

“परन्तु एक सप्ताह बाद चलेंगे।”

“अच्छा, परन्तु भूलियेगा नहीं” कहकर मीमी उठकर चली गई।

दयाकृष्ण वहीं बैठकर सोचने लगे, “आज तक इस लड़की के साथ इतने दिन गुजर गये। अब देखता हूँ यह बड़ी हुई जा रही है। व्याह कर देना होगा। फिर ? ..... . फिर यह चली जायगी मुझे बूढ़े को छोड़कर। ओह ! तब मैं कैसे जीऊँगा। जब इसकी माँ की मृत्यु हुई थी तभी से मैंने इसे छाती से लगाया। इसके साथ हँसा और इसी के साथ रोया भी। इसकी माँ को सन्तान की बड़ी लालसा थी। बहुत दिनों तक जब सन्तान न हुई तब वह निराश हो चुकी थी। परन्तु मुझे तब सन्तान का बिलकुल भी मोह नहीं था। जब यह पैदा हुई तब इसकी माँ, मुझे खूब याद है, कितनी प्रफुल्लित थी। उसके बाद ही वह बीमार हो गई और सालभर होते न होते ..... मुझे छोड़कर और अपनी आँखों की पुतली को छोड़कर चली गई। लोगों ने मुझे बहुतेरा समझाया व्याह करके घर बसाने को; किन्तु इसे देखकर मैं सब कुछ भूल

गया—अपने आपको भी भूल गया। आज यह १५ वर्ष की हो गई। खैर अभी तो कुछ दिन तक धैर्य है ही.....।” दया-कृष्णजी की विचारधारा रुक गई।

×                      ×                      ×                      ×

( ३ )

दार्जिलिङ्ग जाने की सब तैयारी हो चुकी थी। मगर जाने के पहले दिन मीमी को बड़े जोर का बुखार आ गया। अतएव दार्जिलिङ्ग का जाना स्थगित कर दिया गया। बुखार साधारण था। दो-चार दिन बाद उतर गया। मगर यात्रा तो रोकनी ही पड़ी।

इन दिनों पड़ोसियों की बातचीत का विषय था, ‘मीमी’ की ‘इतनी’ बड़ी हो गई है, ‘अभी तक विवाह नहीं हुआ,’ ‘पिता ने सिर चढ़ा लिया है, देखते नहीं कितनी ढीठ हो गई है,’ ‘हाँ किसी से बोलती नहीं,’..... आदि-आदि बातें खूब नमक मिर्च लगाकर कही जाती थीं। एक दिन एक वृद्ध महाशय ने दयाकृष्ण के मुँह पर ही कह दिया।

“क्यों भाई दयाकृष्ण, लड़की सयानी हो गई है। तुम जैसे कुछ जानते ही नहीं। अभी परसों मैंने इसे पड़ोस के गिरधर बाबू के लड़के के साथ बाग में टहलते हुए देखा। कल दिन भर सारे मुहल्ले में यही चर्चा चल रही थी। तुम्हें मैं बचपन ही से जानता

एक सौ बारह

इसी से बुरा लगा, आकर कह दिया। तुम्हारे पिता तो मुझे अपने सगे भाई से बढ़कर मानते थे। मैं भी उन्हें अपना बड़ा भाई ही समझता था। तुम्हारी निन्दा सुनी नहीं जाती।

दयाकृष्ण ने कुछ गम्भीर होकर कहा।

“चाचा, आप बड़े हैं, इससे जो कुछ आप कहेंगे ठीक ही कहेंगे; लेकिन वह जो आपने कहा कि मीमी परसों गिरधर बाबू के लड़के के साथ बाग में टहल रही थी, इसी सम्बन्ध में कल बातें हो रही थीं। भला आप ही बताइये। इसमें मीमी का क्या दोष? बची है और कोई साथी नहीं है इसी से चली गई होगी।.....”

वृद्ध महाशय को अपनी बात का प्रतिवाद बुरा लगा। जरा तेज होकर बोले,

“क्या कहा? मीमी अभी तक बची है? अगर व्याह दी जाती तो अब तक एक बच्चे की माँ होती। खैर, तुम्हें जो भावे वही करो। हमें क्या पड़ी है।” कहते-कहते चाचा जी शीघ्र ही बाहर चले गये।

दयाकृष्ण ने पुकारा, “मीमी।”

मीमी दौड़कर आई और आते ही पिता के गले से लिपट गई। पिता ने रुद्ध भाव से कहा,

“तुम्हारी भलाई के लिये और समाज का ख्याल करते हुए मैं कहता हूँ कि तुम धूमने न जाना। जाना भी तो मुझसे पूछकर।”

मीमी अवाक् होकर पिता का मुँह ताकने लगी। उसके मुँह



पर आश्चर्य के साथ-साथ निर्भयता थी। उसकी समझ में न आया कि आज यह कठोर आज्ञा क्यों दी गई। मीमी ने अलग हटकर निर्भयता से पूछा,

“आज सहसा आपको यह क्या सूझी ?”

“जो भी सूझी हो तुम्हें स्वीकार है न ?” उसी रूखेपन से पिता ने पूछा।

“आपकी आज्ञा कभी न टलेगी, पिता जी। इस बार केवल एक बात पूछने दीजिये।” मीमी ने कौपते हुए स्वर में कहा।

“एक नहीं, तुम दस बातें पूछो बेटी,” कुछ नरम होकर उत्तर मिला।

“क्या आप समाज को मुझसे बढ़कर प्यार करते हैं ?”

पिता के धैर्य की सीमा हो चुकी। आँखों से आँसू टपक पड़े। कन्या को जोर से खींचकर उन्होंने छाती से लगा लिया। पिता पुत्री दोनों बड़ी देर तक रोते रहे।

( ४ )

उपर्युक्त घटना के बाद मीमी कुछ उदास रहने लगी। उसकी वह स्वाभाविक हँसी कुछ-कुछ कृत्रिमता में बदल गई। वह अपने जीवन में दुःख का अनुभव करने लगी। फिर भी पिता की प्रसन्नता के लिये वह सब कुछ करती थी। धीरे-धीरे दो वर्ष और

एक सौ चौदह

बीत गयी। दयाकृष्ण अब मीमी की शादी के लिये अधीर हो उठे। मीमी ने कई बार सोचा कि पिता से साफ कह दूँ कि 'विवाह न करूँगी,' लेकिन कुछ तो लज्जावश और कुछ पिता की अप्रसन्नता का ख्याल करके वह चुप रह जाती थी। दयाकृष्ण समझते थे कि अब तक विवाह न होने से ही शायद मीमी उदास रहा करती है। वे और भी चिन्तित हो उठे। इधर उधर दौड़-धूप के बाद एक जगह विवाह पक्का हो गया।

समधी महाशय पं० गजाधर व्यापारी आदमी थे। लड़कों को भी सामूली पढ़ाई के बाद कारबार की शिक्षा दी गई थी। बड़े लड़के सुरलीधर की शादी हो चुकी थी। अब वंशीधर की बारी थी। वह भी मीमी के साथ निश्चित हो गई।

मीमी ने विना जाने बूझे ही भविष्य की कल्पना की। एक बार उसका उदास मन नाच उठा। 'न जाने कैसा होगा।' सभी कुछ सुन्दर ही उसने सोचा। उसने निश्चय किया, "सास-ससुर को माता-पिता के समान मानूँगी। जेठ को भाई और जिठानी को दीदी कहूँगी। पतिदेव के चरणों में अपने को निछावर कर दूँगी। और और.....।"

इसी तरह की कल्पना में चार मास बीत गये। उसके बाद बड़ी धूम-धाम से शुभ लग्न में मीमी का विवाह हो गया। पिता को छोड़ते हुए दुःख हुआ सही किन्तु नयी दुनिया को देखने की खुशी भी कम न थी।

ससुराल जाकर उसने सुना कि सभी असन्तुष्ट थे, कारण

था दहेज की कमी, यद्यपि दहेज देने में दयाकृष्ण ने अमीनी और से कुछ भी कसर नहीं की थी, देखने वाले भी खूब वाह वाह करते थे; परन्तु ससुराल वाले नाक-भों सिकोड़ कर तरह तरह की बातें कर रहे थे। मीमी उदास हो गई। चार पाँच दिन तक खूब चहल पहल रही, बच्चे बूढ़े जवान सभी 'बहू बहू' करके मीमी का मुँह देख रहे थे। कुछ दिन बाद वह पिता के पास लौट आई।

( ५ )

सालभर के भीतर ही गौना हो गया। मीमी फिर ससुराल आ गई। इसबार उसे ऐसा मालूम हुआ कि वह अब पहले की तरह 'बहू, बहू' नहीं है। किसी को भी उसके सुख-दुःख का ध्यान नहीं। हाँ कभी कभी बच्चे आकर कोई 'भाभी' कोई 'चाची' कह कर भाग जाते हैं। मीमी को जब अकेले बुरा लगता तब वह कोई पुस्तक उठाकर पढ़ने लगती थी। इस पर खासी कानाफूसी होने लगी। मीमी ने चुपके से पुस्तकें सन्दूक में बन्द कर दीं। क्रमशः मीमी घर के काम-काज में होशियार हो गई। वह खूब काम करती और सदा प्रसन्न रहती। इतने पर भी जब सास और जिठानी उससे सीधे मुँह बात न करतीं तब वह बेचारी क्षुब्ध हो उठती थी। एक दिन सास भाड़ू लगा रही थी। मीमी ने भाड़ू छुड़ाते हुए कहा,

एक सौ सोलह

“अम्मा, भाड़ू मुझे दे दीजिये, मैं लगा लूँगी।”

सास चुप थी।

“दे दीजिये अम्मा,” विनीत स्वर में मीमी ने कहा।

“भगड़ा करने आई हो क्या ? या मुझसे तुम अच्छी तरह भाड़ू दे सकती हो। ‘दे दीजिये, दे दीजिये;’ कुछ काम न धन्धा, आप तो काम से जी चुराती है, मुझे भी नहीं करने देती। अरे बाबा, मेरी तो काम करते करते हड्डी पिस गई।” गरजते हुए सास यह सब एक साँस में कह गई। मीमी चुपचाप कोठे में चली गई।

एक दिन मीमी ने अपनी जिठानी निरोजा से कहा,

“जीजी, क्या आप बाहर घूमने नहीं जाती ? चलिये न एक दिन हम दोनों साथ चले।”

“क्या तुम अपने पीहर में हवाखोरी को जाती थी ?” निरोजा ने पूछा।

“हाँ मैं तो रोज ही जाती थी,” मीमी ने उत्तर दिया।

“अम्मा जी से पूछकर बताऊँगी।”

“अच्छा”, मीमी ने निरुत्साह होकर कहा। उसे आशा नहीं थी कि सास जाने की इजाजत दे देंगी। इसी से वह निराश हो गई।

निरोजा ने उसी दिन सास के पास जाकर अपनी भक्ति का दम भरते हुए मीमी की बातों में खूब नमक मिर्च लगाकर कहा।

“अम्मा जी, देखा आपने बहू को। कहती है ‘अपने पीहर

तो मैं रोज ही हवाखोरी को जाती थी। यहाँ तो जैसे मेरा दम ही घुट जायगा'। मुझसे भी अपने साथ चलने को कहती है। मैंने कहा कि अपने मन से कैसे चलूँ घर में अम्मा जी हैं उनसे पूछूँगी। इस पर ऐसी बिगड़ उठी कि बाप रे मुँह लटक गया। मैं तो वहाँ से उठकर आ गई।”

इतना सुनना था कि सास ने कुहराम मचा दिया। जोर जोर आँखें मलकर लाल आँखें कर ली और चिल्लाकर कहने लगी

“मैं कहती थी न उस निठल्ले की बेटी मत लाओ। घर में कोई औरत नहीं। लड़की ढीठ होगी, जाने कैसा चरित्र है कैसा नहीं, मगर मेरी कौन सुनता। बड़े आदमी की लड़की है, जानो इसके बाप ने ऐसा ही दिया जिससे कुछ तसल्ली तो हो। और ये महारानी ऐसी है कि घर में सभी से जलती है... ..।”

पं० गजाधर जी ने ये बातें सुनी तो कमर कस कर बाहर निकल आये—मानो मीमी को मार ही डालेंगे। मीमी अन्दर से सब सुन रही थी। गजाधर जी ने नाक से बोलते हुए और अपनी छोटी आँखों को बड़ी करने का निष्फल प्रयत्न करते हुए कहा,

“क्या करें, गलती हुई। हमने तो सोचा था कि बड़े घर की बेटी है बड़ी बात होगी, ऐसी कमीनी निकलेगी यह कौन जानता था। पर हमारा क्या बिगड़ा है। अभी वंशी की दूसरी शादी कर देंगे। यह देखती रह जायगी। स्त्री तो पैर की जूती है। एक न सही दूसरी आ जायगी। औरत तो आदमी के सुख के लिये

होती है। अगर सुख न मिला तो औरत को लात मार कर निकाल देना चाहिए।”

इतना कहकर गजाधर चारों ओर गर्व से देखने लगे—मानो दिग्विजय कर ली हो।

मीमी अपने कमरे में बैठी आँसू बहा रही थी।

## ( ६ )

मीमी चारों ओर से निराश हो गई। उसे याद आता था केवल पिता का स्नेह, उनका वात्सल्य और असीम दुलार। वह पिता के पास जाना चाहती थी। लेकिन कैसे? कुछ लिखने से पिता को दुःख होगा। वह समाज को कोसती थी, ‘हाय रे हिन्दू समाज। क्या स्त्री जाति से तेरी शत्रुता है?’

वंशीधर माता-पिता की आज्ञा के विरुद्ध कभी न चलते थे। माता-पिता के कहने पर वे नीच से नीच काम करने में भी आगा-पीछा न करते थे। उनका अपना व्यक्तित्व कुछ नहीं था। आत्मा उनके लिये कोई पदार्थ नहीं था। अन्तरात्मा की पुकार सुनने के लिये उनके कान बहरे थे। हाँ यार दोस्तों के साथ इधर उधर गलियों के चक्कर काटना और सोडावाटर की बोतल के साथ ‘देवी’ की उपासना करना वे अनुचित नहीं समझते थे। मीमी का उदास मुँह देखकर वे कभी न पूछते थे कि कि तुम्हें क्या हुआ है? पिता की तरह वे भी उसे ‘पैर की जूती’ समझते थे।

एक सौ उन्नीस

रात के बारह बजे का समय था। वंशी कहीं बाहर जाने की तैयारी कर रहे थे। मीमी ने मुसकुराने की चेष्टा करते हुए दबी जवान से पूछा,

“ इस समय कहाँ जाने का विचार है ? रात बहुत बीत गई है। अब आराम कीजिये। ”

जलती हुई नजर से एक बार मीमी की ओर दृष्टिपात करके वंशीधर कोट के बटन ठीक करने लगे। मीमी उत्तर की प्रतीक्षा में थी। परन्तु वंशीधर ने कुछ उत्तर देना ठीक न समझा और बाहर जाने लगे। मीमी ने कोट का कोना खींचते हुए फिर पूछा,

“ कितनी देर में आओगे ? ”

एक झटका देते हुए वंशीधर ने भिनभिना कर कहा,

“ तुमको क्या मतलब ? तुम कौन होती हो मेरी बातों में दखल देने वाली ? ”

मीमी इस उत्तर के लिये तैयार नहीं थी। वह अवाक् हो गई। उसने उपन्यासों में पढ़ा था कि किसी ने पति के लात मारने पर चरण पकड़ लिये थे तो किसी ने धमकाने पर हँस दिया था। परन्तु आज समय पड़ने पर वह कुछ न कर सकी। उसके लिये यह अपमान भयंकर हो उठा। वंशीधर के चले जाने पर वह अपना अंचल जमीन पर बिछाकर सो गई। मगर नींद कहाँ ? उसके कान में बार-बार वे ही शब्द गूँजने लगे, ‘ तुमको क्या मतलब ? तुम कौन होती हो मेरी बातों में दखल देने वाली ? ’ ‘आह, मैं कोई नहीं हूँ। जब तुम्हें ही मेरी परवाह नहीं तब और

कोई क्या करेगा ?' मीमी फूटफूट कर रोने लगी । अपने आँसुओं से आप ही भीग गई ।

( ७ )

कष्टों की संख्या बढ़ने के कारण मीमी अस्वस्थ रहने लगी । इस जीवन में सुख की आशा उसने एकदम छोड़ दी । कई बार उसने सोचा कि पिता को लिख दूँ । लेकिन हाय, अब तो इतनी भी स्वतन्त्रता नहीं रह गई थी । उसके पिता की जो चिट्ठियाँ आती थीं वे सब पढ़ी जाने पर मीमी को मिलती थी और जो चिट्ठियाँ मीमी लिखती थी वे भी पढ़ी जाने पर ही डाक में छोड़ी जाती थी ।

निरुपाय होकर उसने भगवान् को पुकारना आरम्भ कर दिया, किन्तु प्रत्यक्ष और शीघ्र उसका फल न पाकर मीमी अधीर हो उठी । क्रोध में वह भगवान् को भी धिक्कारने लगी और अपने ही आप गम्भीर हो गई । किसी से बातें न करती । उसे कुछ भी न भाता । प्रातःकाल से लेकर सोने तक खूब जी तोड़ कर परिश्रम करती और नैराश्य-सागर में गोते लगाती । फल यह हुआ कि मीमी दिन पर दिन रुग्ण होती गई । जब वह बहुत दुर्बल हो गई, जब उसने अपने आपको मँझधार में पाया तो करुण स्वर से पुकार उठी, “ माँ ! माँ ! ! ”

एक सौ इक्कीस



पं० दयाकृष्ण ने मीमी के विवाह के बाद शहर छोड़ दिया और अपने पूर्वजों के ग्राम में रहने लगे। गाँव में एक छोटी सी नदी थी, उसी के किनारे उनका मकान था। सुबह शाम वे भगवान् का भजन करते थे और शेष समय परोपकार में बीत जाता था।

एक दिन प्रातःकाल सन्ध्यावन्दन से निवृत्त होकर उन्होंने देखा कि गिरधर बाबू का लड़का विपिन सामने खड़ा है। विपिन ने उन्हें प्रणाम किया और कुशलक्षेम पूछने लगा। दयाकृष्ण ने बैठने का अनुरोध करते हुए स्वयं भी एक ओर बैठकर कहा,

“विपिन, कहो आज कैसे भूल पड़े। अच्छे तो रहे बेटा। भला इतने दिनों बाद बूढ़े की सुघ तो आई।”

विपिन ने भर्राये हुए गले से उत्तर दिया, “चाचा, यह आप क्या कहते हैं? कहीं यह भी सम्भव है कि मैं आपको भूल जाऊँ।” दयाकृष्ण हँसने लगे।

“आपको नहीं मालूम है क्या?” विपिन ने पूछा।

“क्या?” संक्षेप में दयाकृष्ण ने प्रश्न किया।

“मीमी की तबियत बहुत खराब है।”

“ऐं? क्या तुम सच कहते हो? जल्दी कहो क्या बात है? उसने तो मुझे कुछ भी नहीं लिखा।” दयाकृष्ण ने घबड़ा कर कहा।

“उसे वहाँ बड़ी तकलीफ है चाचाजी, बुला लीजिये उसे।”

“आज ही मैं जाता हूँ”, कह कर दयाकृष्ण उठ खड़े हुए।”

“नहीं, नहीं, ऐसी खराब नहीं है उसकी तबियत,” विपिन ने धैर्य के स्वर में कहा, “खाना खा लीजिये।”

“न बेटा, खाना नहीं जायगा।” दयाकृष्ण ने व्याकुल होकर कहा।

“ऐसे तो मैं न जाने दूँगा। खाना खाकर साथ ही चलेंगे।”

दयाकृष्ण रुक गये। सोचने लगे, “विवाह से मीमी सुखी न हुई यह मुझे उसके उदासी से भरे पत्रों से पता चलता है। इधर उसने पत्र लिखना भी बन्द कर दिया है। आज सुनता हूँ वह बीमार है। गजाधर जी ने भी मुझे कोई पत्र न दिया। क्या बात है। कहीं उसकी बीमारी की खबर भूठ तो नहीं है? हे भगवन्, यही हो। सोचा था यहाँ एकान्त में जीवन के शेष दिन काट दूँगा, सोचा था मीमी सुखी रहेगी। परन्तु मेरी लाडली बेटा आज बीमार है। कहीं मेरे पहुँचने से पहले ही.....ना—ना—यह न होगा।” सोचते सोचते वे अधीर हो उठे।

( ६ )

मीमी की ससुराल पहुँच कर दयाकृष्ण को मालूम हुआ कि मीमी कई दिनों से बेहोश है। वे घबड़ा उठे, मीमी के पास जाकर देखा कि उसे सन्निपात हो गया है और वह अनर्गल बक

एक सौ तेईस

रही है। दयाकृष्ण को रुलाई आ गई, डाक्टर बुलाया गया, खूब दौड़-धूप की और चौबीसो घंटे मीमी के पास बैठे रहे। उनकी सेवा का पुरस्कार उन्हें मिल गया। मीमी स्वस्थ होने लगी, धीरे धीरे वह उठने बैठने लग गई, अब दयाकृष्ण मीमी को साथ ले जाने का प्रयत्न करने लगे। गजाधर जी से पूछने पर जब कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला तब उन्होंने वंशीधर को बुलाकर कहा,

“बेटा, तुम्हे लड़की सौंपी है। तुम्ही बताओ क्या मैं इसे ले जाऊँ।”

दाँत निकाल कर वंशी बोला,

“मुझे कोई मतलब नहीं, पिताजी से पूछिये।”

“तुम्हे अगर मतलब नहीं तो तुम्हारे पिता जी को क्या मतलब ?”

“मैं उनकी आज्ञा के बाहर नहीं हूँ। घर में अम्मा जी को काम की तकलीफ होगी।”

“तो भला इस अवस्था में वह क्या काम कर सकेगी ?”

“नहीं कैसे करेगी”, वंशी ने रूखे होकर कहा।

“क्या तुम्हें दया नहीं आती ?” घृणा के स्वर में दयाकृष्ण बोले।

“आप जो समझें।”

“तो मैं मीमी को ले जाऊँगा,” निश्चय के स्वर में दयाकृष्ण ने कहा।

हम“ वंशी का दूसरा व्याह कर लेंगे”, पास हो खड़े मुरली-धर बोल उठे ।

“ एक नहीं आप दस व्याह कीजिये ” कौंपते हुए स्वर मे दयाकृष्ण कहने लगे । “ रोकता कौन है ! आज तक मुझे मालूम ही नहीं था कि आप लोग इतने कसाई हैं । नहीं तो अब तक..... । ”

हल्ला सुनकर गजाधर भी आ गए थे, बात काट कर बोले “ इतनी हिम्मत ! अच्छा अभी लाता हूँ तेरी लड़की को । ” क्रोध से कौंपते हुए गजाधर भीतर गए और मीमी से बोले, “ अभी निकल मेरे घर से । सब जेवर और कपड़े यहाँ छोड़ जाना । ”

मीमी ने आज्ञा का पालन किया । सास और जिठानी के पैर छुए । ससुर के पैर छूने लगी मगर वे अलग हट गये । वंशीधर की ओर एक निगाह डालकर वह अपने पिता के पास आकर बैठ गई । दयाकृष्ण ने दृढ़ स्वर मे कहा,

“ उठो बेटी, अब यहाँ तुम्हारा कोई काम नहीं । ”

मीमी उठ खड़ी हुई । दोनो पिता पुत्री वहाँ से चल दिये ।

( १० )

मीमी की जीवनधारा बदल गई, उस अशान्त वायु-मण्डल से निकल कर उसमें नया जीवन आ गया । यथाशक्ति वह पिता की

एक सौ पन्नीस

सेवा करती थी। उस छोटी सी नदी के किनारे उसे अपने जीवन का पूर्ण आनन्द प्राप्त हो जाता था। घण्टो वह नदी तट पर बैठे सोचा करती। क्या सोचती थी यह वही जाने। उसे अपने जीवन में कोई आकांक्षा शेष नहीं दिखाई देती थी, एक अपूर्व शान्ति उसके मुख पर सदैव विराजती थी। कुछ ही दिनों में उसने फिर बहुत सी पुस्तकों का अध्ययन कर लिया; मगर अब पुस्तकों का विषय धार्मिक था।

यह सब होते हुए भी मीमी का स्वास्थ्य पूर्ववत् न हो सका। पिता सदैव चिन्तित रहा करते थे। उन्होंने शहर से कई डाक्टर भी बुलाए, बराबर इलाज होता रहा। परन्तु कुछ लाभ न हुआ। डाक्टरों का कहना था कि खून की कमी के कारण ही यह सब है। दयाकृष्ण ने मीमी की हालत देखकर बहुत चाहा कि गाँव छोड़ दें और फिर शहर को लौट चलें, परन्तु मीमी किसी प्रकार राजी न हुई। वह हँसकर कहती,

“पिता जी, मौत तो सभी जगह आती है। क्या गाँव क्या शहर।”

पिता गम्भीरता से कहते,

“फिर भी निमित्त मात्र तो है।”

मीमी कुछ न कहकर लापरवाही के साथ हँस देती।

( ११ )

विपिन दयाकृष्ण को बराबर पत्र लिखा करता था। मीमी के लिए वह सदैव चिन्तित रहता था और कभी-कभी गाँव में आकर

मीमी को समझाता भी था कि अपने स्वास्थ्य का ख्याल करो । पिता वृद्ध हैं, इस अवस्था में उन्हें शोक पहुँचाना अच्छा नहीं । मीमी कहती, “ तो विपिन भाई, अभी उन्हें कौन सा सुख है ? मेरे बाद तो वे निश्चिन्त हो जाएँगे । दुःख कैसा, और फिर तुम तो हो ही । ”

विपिन उदास होकर कहता, “ हॉ बहिन, पिता जी की मृत्यु के उपरान्त मैं इन्हें ही पिता के समान मानता आया हूँ । पर तुम्हारे समान सेवा तो न कर सकूँगा । ”

मीमी इस पर चुप रह जाती थी ।

एक दिन जब दयाकृष्ण सन्ध्यावन्दन करके उठे तो तब उन्होंने देखा कि मीमी रोज की भाँति आज चाय नहीं बना रही है । उनका मन घबड़ा गया । शीघ्रता से मीमी के कमरे की ओर गए तो देखा मीमी अर्धचेतनावस्था में पड़ी हुई है । पास जाकर स्पर्श किया तो ठंडी हो रही थी । बुखार न था फिर भी वह बहुत कमजोर हो गई थी । बोलने में असमर्थ थी । पिता की ममता झाँकाकर कर उठी । वे बच्चों की तरह फूटफूट कर रोने लगे । फिर आप ही कुछ धैर्य रखकर उठे और एक आदमी को शहर डाक्टर को बुलाने के लिये भेज दिया और स्वयं कन्या की परिचर्या में लग गये । मीमी को दौरा सा आ गया था । रात को उसे सँभलते देख पिता कुछ प्रसन्न हुए ; परन्तु प्रातःकाल वह फिर गिर गई ।

शाम को डाक्टर के साथ विपिन ने घर में प्रवेश किया ।

दयाकृष्ण को कुछ आशा बँधी। सब लोग रोगिणी के कमरे में गए। डाक्टर ने कई प्रकार के इंजेक्शन दिये। मगर मीमी की हालत न सुधरी। डाक्टर ने सिर हिलाकर कहा, “बदन में खून नहीं है, अब कोई उम्मीद नहीं।” दयाकृष्ण मूर्छित होकर गिर पड़े। विपिन ने अपना हाथ आगे बढ़ाकर कहा,

“डाक्टर साहब, जितने खून की जरूरत हो मेरे शरीर से निकाल लीजिये। डाक्टर ! डाक्टर ! देर न कीजिये।”

डाक्टर ने आश्चर्य और दुःख से विपिन की ओर देखा। उनकी आँखों में असमर्थता थी। हाय, अगर इतना ही मनुष्य के हाथ में होता .....। डाक्टर ने गम्भीरता से फिर सिर हिलाकर कहा,

“भाई, अब कुछ नहीं हो सकता। मैं लाचार हूँ।”

विपिन ने गिड़गिड़ा कर कहा,

“प्रयत्न कीजिये डाक्टर। शायद बच जाय।”

दयाकृष्ण की मूर्छा भंग हो गई थी। चारों ओर पास-पड़ोस के लोग जमा हो रहे थे। वे सब विपिन की निर्भयता को देखकर आश्चर्य कर रहे थे। पर विपिन का अनुसरण किसी ने नहीं किया।

मीमी ने एक बार आँखें खोलकर देखा। उसने सुना विपिन कह रहा था कि जल्दी मेरा खून निकालकर उसकी कमी पूरी कर दीजिये डाक्टर। देर न होने पावे।

मीमी की आँखें चमक उठीं। अधरों पर मुस्कान खेल गई।

मान्ने वह इस “पराये” का उत्सर्ग देखकर कृतार्थ हो गई हो  
और कृतज्ञता प्रकाश करना चाहती हो ।

मीमी ने आँखें बन्द कर ली । मुस्कान अब भी उसके मुँह  
पर थी ।

नैनीताल }  
अगस्त, १९३४ }







दरोगा की बेटी





ब

ह दारोगा की बेटी थी। उसका नाम था कलावती।  
किन्तु माँ बाप की इकलौती पुत्री, उस पर भी  
मुशीला। इसलिए उसका आधा नाम ही पर्याप्त  
था—अकथनीय प्यार का सूचक था।

एक समय था, जब वह आए दिन एक न एक वस्तु के लिए  
हठ किया करती और सदैव विलासिता की नदी में डूबी रहती  
थी। अपनी इच्छाओं की पूर्ति ही उसका एक मात्र उद्देश्य था।  
वह थी दारोगा की बेटी।

सहसा गाँधी की आँधी में वह किनारे लग गई। समय की  
गति विचित्र है। कैसे कैसे पत्थर पिघल गए। इन्हीं में से एक  
थी कला—दारोगा की बेटी।

+ + + +

एक सौ तैंतीस

प्रभात का समय था। कड़ाके का जाड़ा। सहसा बाहर से बड़े उच्चस्वर से सुनाई पड़ा,

“जीवन ज्योति जगाई है, इस तरल तिरंगे भंडे ने।”

दारोगा साहब ने देखा, प्रभात फेरी वालो का एक जुलूस था, जल्दी से बठकर ओवरकोट पहना और बाहर चल दिये।

दारोगा साहब को देखकर जुलूस में से आवाज आई, “लाल पगड़ी नीची हो,” “गॉंधी टोपी ऊँची हो।”

दारोगा साहब की त्योरियाँ बदल गईं। क्रोध में मुँह लाल होगया। सौभाग्यवश उस समय दो-चार पुलिस के सिपाही भी बर्ही थे। इशारा पाते ही जुलूस पर दूट पड़े।

जिस समय यह घटना घटी, उस समय कला अपने दुमंजिले मकान के बरामदे में खड़ी थी वह सोचने लगी—आखिर ये क्यो इस तरह पिटने को तैयार होजाते है। उसकी समझ में नहीं आया कि रोज ऐसी घटना होने पर भी दिन प्रतिदिन क्यो इन लोगो का उत्साह-सा बढ़ रहा है.....इत्यादि।

पिता के आने पर कुछ रोनी-सी सूरत करके सामने जा बैठी।

कला—“पिता जी।”

दारोगा—“हाँ बेटी।”

कला—“ये लोग क्यो इस तरह प्रभात फेरी लगाते है ?”

दारोगा—“बेवकूफ हैं, बेवकूफ।”

कला—“ तो आप उन्हें मारते क्यों हैं ? ”

दारोगा—“ आगे से सम्हल जावें इसलिये । ”

कला—“ ऊँह वे तो और ज्यादा होते जाते हैं । ”

दारोगा—“ क्या करें । इनके मारे हैरान होगया हूँ । यहाँ तो अभी तक इतने में ही गनीमत है । और जगह तो इनका बड़ा जोर है । ”

कला “ हूँ ” कह कर चुप होगई ।

( ३ )

“ कला । ओ कला । ”

कला ने चौंक कर देखा, लीला—उसकी प्यारी सखी—थी ।

“ हौँ ” कह कर कला ने उसे खीचकर पास बैठा लिया ।

“ तुम भी चलोगी ? ” लीला ने किञ्चित मुसकुरा कर कहा ।

“ कहौँ ? ” नेत्र विस्फारित कर कला ने पूछा ।

“ ओहो ! अभी तक मालूम भी नहीं हुआ ? ” यह कह कर लीला हँसने लगी ।

कला को चुप देखकर लीला पुनः कहने लगी,

“ कला, आज हमने एक खहर का तिरंगा भंडा बनाया है । उसे लेके हम लोग गाते हुए जावेंगे—सब जगह घुमावेंगे । आज तीन दिन हुए इसी तरह एक जुलूस निकला ।

एक सौ पैंतीस

दारोगा साहब ने पिटवा दिया । तमाम लोगों को चोट लगी । कितने ही जेल में बन्द हो गए । उसमें भैया भी थे । कहते हैं कि भैया को तो स्वयं दारोगा साहब ने पीटा था .... । ”

कला—“ हट । वे लोग सब बेवकूफ हैं । मैं तो नहीं जाऊँगी । ”

लीला—“ जा पगली, पक्की है दारोगा की बेटी । देश द्रोही, जा तेरे साथ नहीं बोलूँगी । ”

( ४ )

दूसरे दिन कलाने छत पर जाकर देखा कि महिलाओं का एक विराट् जुलूस राष्ट्रीय झंडा फहराता हुआ और भारत माता की जय, वन्देमातरम् के नारे लगाता हुआ राष्ट्रीय गाने गाता हुआ धीरे धीरे जा रहा है । उसने देखा कि लीला—उसकी प्यारी सखी—एक स्वच्छ खहर की धोती पहने हुए बड़ी अच्छी मालूम होती है ।

देखते ही देखते वह दृश्य आँखों से ओझल होगया । साथ ही उसने देखा, दारोगा साहब तथा सिपाही लाठी लेकर उसी ओर चल पड़े ।

सहसा वह सोचने लगी यदि इस समय लीला को चोट लग जायगी तो क्या होगा ?

एक सौ छत्तीस

यह सोचते ही वह रोने लगी । उसका कोमल हृदय विदीर्ण  
होगया वह कुछ भी निश्चय न कर सकी कि क्या करना चाहिये ?

शाम को पिता से पूछने पर उसे मालूम हुआ कि लीला  
गिरफ्तार होगई ।

## ( ५ )

छः महीने का लंबा समय बीत गया, कला ने इस बीच बहुत  
कुछ सीख लिया था । वह जान गई थी कि प्रभात फेरी लगाने  
वाले बेवकूफ नहीं, बेवकूफ हैं कहने वाले ।

अभी लीला के जेल मुक्त होने के पंद्रह दिन बाकी थे । कला  
बड़ी उतावली से इस दिनों को काट रही थी । कभी लीला की माँ  
के पास जाकर चर्चा कातती थी । कभी इन्हीं विषयो पर चर्चा  
किया करती थी । उसकी इन बातों को देख दारोगा साहब बेतरह  
भ्रम्रा उठते थे । किन्तु कला चुपचाप सह लेती थी ।

अन्त में पन्द्रह दिन समाप्त हुए ।

लीला जेल से मुक्त हो गई । उसे पुष्पमाला पहना कर  
हजारो महिलाओं ने उसका स्वागत किया । सम्मानित होकर वह  
घर पहुँची । माता ने हृदय से लगा लिया ।

उसी समय कलाभी वहाँ पहुँची और अपराधिनी की भौंति  
लीला के चरणों में गिर कर फूट फूट कर रोने लगी ।



दूसरे दिन माँ के बहुत रोकने पर भी जब कला जुद्धस  
में सम्मिलित होगई, तब उसका चेहरा हर्ष से प्रफुल्लित था ।

गाते हुए गुल्लस आगे बढ़ा ।

गीत था—

“ स्वतन्त्रता की बलि वेदी पर  
होवेंगे हम सब बलिदान.....। ”

कौन जानता था कि यह शब्द पूरे होते होते एक कोमल  
कली माँ के चरणों में अर्पित हो जायेगी ।

पुलिस न सह सकी । लाठियों की वर्षा होने लगी ।

कला आहत होकर जमीन पर गिर पड़ी । एक लाठी की  
कसर थी । पुलिस ने उस कमी को पूरा कर दिया । कला ने हँसते  
हँसते प्राण त्याग किया । उस समय कौन जानता था कि वह  
'दारोगा की बेटी' थी ।

दिल्ली }  
फरवरी १९३१ }

भ्रम



जब एम. ए. की परीक्षा देकर घर लौटा, तो अम्मा ने शादी की बात चलाई, यों तो वह सदा ही मेरे पीछे पड़ी रहती थी और मुझे तरह तरह के प्रलोभन दिया करती थी— कभी बहू के रूपवती होने का तो कभी आज्ञा-कारिणी होने का— किन्तु मैंने साफ शब्दों में कह दिया था कि जब तक पढ़ाई खतम न कर लूँगा, तब तक कदापि शादी न करूँगा। यही कारण था कि अब तक माँ मन मसोस कर रह जाती थी।

आज फिर माँ ने वही प्रश्न किया,

“ सुशील, पढ़ाई समाप्त कर चुके, अब तो हामी भरदो न। ”

“ अभी जल्दी क्या है माँ। नतीजा तो निकलने दो। पास हो गया तब। ” यह कहकर मैं हँस दिया।

पृक सौ एकतालीस

दोपहर का समय था। बड़ी गर्मी थी। मैं अपने कमरे में लंटा एक पुस्तक के पन्ने उलट रहा था। सहसा माँ ने पुकारा “सुशील।” मैं भटपट उठकर पास ही उसके कमरे में चला गया और ‘माँ’ कहकर उसके पास जा बैठा। वह एक शीतल पाटी विझाकर फर्श पर लेटी थी—और हाथ में पंखा लिये धीरे-धीरे झल रही थी। मेरे ‘माँ’ कहने पर वह उठ बैठी और मुझे भी इशारे से पास बैठने का संकेत कर पूर्ववत् लेटकर मुझ पर भी पंखा झलाने लगी। मैंने भट से पंखा छीनकर कहा, ‘माँ, ला, मैं झल दूँगा।’ उसके बहुत कहने पर भी मैंने एक न सुनी और धीरे-धीरे उसे पंखा झलाने लगा। माँ सो गई।

X                      X                      X                      X

आखिर मेरी परीक्षा का फल निकला और मैं प्रथम श्रेणी में पास हो गया। माँ की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह फूली न समाती थी। मुझे देख-देखकर मेरी बलैयाँ ले रही थी। मानो मैंने बहुत बड़ा काम किया हो। मैं जरा भी ‘माँ’ कहता, तो दौड़ी-दौड़ी आती थी। मैं किसी नौकर को आवाज लगाता और वह आने में देर करता, तो उसे माँ की खूब फटकार खानी पड़ती। वह कहती “खबरदार, जो अब कभी बच्चे को इस तरह ठहरना पड़ा, तो तेरी खबर लूँगी।” मैं कहता, “जाने भी दो माँ। क्या हुआ।”

X                      X                      X                      X

एक दिन जब मैं स्नान करने नदी के तटपर गया, तो श्यामा एक लोटे में जल लिये पास ही शिव जी को चढ़ाने जा रही थी।

एक सौ बयालीस

मैं चौंक पड़ा। आज करीब छः साल बाद मैंने उसे देखा। 'क्या यह वही श्यामा है' यही प्रश्न बार-बार मेरे मन में उठने लगा। अन्त में मैंने पास जाकर कहा, "श्यामा, पहचानती हो ?"

कुछ क्षण तो वह भौचक्की-सी रही। अन्त में मुसकुरा कर बोली, "जी हाँ।" और बिना कुछ प्रतीक्षा किये जल्दी से चली गई।

मैं स्नान कर घर लौट आया। किन्तु मन वहीं नदी के तट पर रह गया।

X X X X

श्यामा हमारे गाँव की एक लड़की थी। बचपन में वह मुझसे बहुत हिली थी। किन्तु इधर कालेज में पढ़ने के कारण मैं गाँव में बहुत कम रह पाता था। उधर श्यामा भी माता के देहान्त हो जाने से अपने पिता के साथ दूसरे शहर में रहने लगी थी। आज पूरे छः साल बाद हम दोनों मिले थे।

श्यामा देखने में अच्छी थी। रंग गोरा, बड़ी बड़ी आँखें। सबसे अच्छी तो उसकी दन्तपंक्ति थी। मैं श्यामा को प्यार करता था। उसमें अब वह बालोचित चंचलता नाम मात्र को भी नहीं। गंभीरता की हलकी सी झलक एवं किंचित् लज्जा से उसकी मुख श्री और भी खिल उठी थी।

मैं रोज एक बार श्यामा के घर हो आया करता। कभी कभी वह भी आ जाती थी, हम लोगों का प्रेम दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। यह देख कर माता जी ने मेरा विवाह श्यामा से कर देने

एक सौ तैंतालीस

की इच्छा प्रकट की। इस पर मुझे क्या उज्र हो सकता था। मैंने चटपट अपनी स्वीकृति दे दी, श्यामा को अभी तक इस बात का कुछ भी पता न था। कुछ जल्दी तो थी नहीं इस लिए उसके पिता को भी खबर नहीं दी गई थी। मैं समझता था कि श्यामा अब मेरी हो चुकी; किन्तु कौन जानता था कि उस पर मेरा कुछ भी हक नहीं है। एक दिन सहसा श्यामा के पिता ने आकर कहा,

“मेरी श्यामा का विवाह निश्चित हो गया है, श्यामा के योग्य वर मिल गया है और अब वह काफी सयानी हो गई है, इसलिए मैं अब अधिक विलम्ब करना नहीं चाहता। इसी माह मे विवाह कर देने का विचार है।”

यह सुन कर मुझे जैसे काठ मार गया; किन्तु तुरन्त अपने भाव बदल कर मैंने कहा, ‘बड़ी प्रसन्नता की बात है।’ बस, इससे आगे मैं कुछ न कह सका। गला जैसे भर भर आता था।

माँ को भी यह सुन कर कम दुःख न हुआ। उसने एक गहरी साँस लेकर कहा,

“यदि ऐसा जानती, तो कुछ दिन पहले ही श्यामा के पिता से बात चलाती। किन्तु श्यामा के समान पुत्रवधू मेरे भाग्य में न बदी थी। जाने भी दो।”

×                      ×                      ×                      ×

उस दिन श्यामा का विवाह था। मैं भी वहीं किसी न किसी काम में हाथ बँटा रहा था। बड़ी चहल पहल थी। सभी अपने अपने कार्य में व्यस्त थे।

मैं जब श्यामा को देखता, तभी उसका चेहरा मुस्त मालूम पड़ता। मुझे देखते ही वह एक न एक बहाना करके हट जाती थी। जब मैं बहुत जोर करता और उसके सामने का रास्ता रोक कर खड़ा होजाता, तो वहसिर झुकाकर रोकने का कारण पूछती। मैं कहता, “श्यामा, ससुराल जाने पर क्या तुम मुझे भूल जाओगी ?”

इस पर वह गम्भीर मुखमुद्रा बनाकर कहती, “वाह, भूलूँगी क्यों ?”

तब मेरा हृदय खिल उठता और मैं उसका रास्ता छोड़ देता।

X X X X

पूरा सालभर होगया। श्यामा अपनी ससुराल से आई थी। मैं दौड़ा-दौड़ा उसे देखने गया। मुझे देखकर वह प्रसन्न होगई। घण्टो तक इधर-उधर की बातों के पश्चात् मैं घर लौट आया। मन ही मन श्यामा के अकपट स्नेह व्यवहार से फूला न समाता था। वह कितनी सरलता से बातें करती थी, कितना पवित्र स्नेह रखती थी। किन्तु मैं—हाय, न मालूम किस पाप भावना से प्रेरित होकर—इसके विपरीत व्यवहार करता था। मैं चाहे कुछ भी कह देता वह कभी भी मुझे न डाटती थी। क्या ही अच्छा होता यदि वह मेरी बातों का वास्तविक रूप समझकर मुझे फटकार बता देती। वह सदा हँसती रहती थी, मैं मूर्ख, धोखेबाज उसकी इस सरलता का मूल्य न समझकर अपनी ही उल्टी सीधी बातें बका करता। वह मेरी मनोवृत्ति समझती थी या नहीं यह मैं नहीं

एक सौ पैंतालीस

जानता था। हाँ इतना अवश्य था कि वह कभी प्रकट नहीं करती थी। एक दिन बातों ही बातों में मैं कह बैठा,

“श्यामा, तुम मेरी हो ?”

श्यामा वाह, कहकर हँसने लगी। उसके कपोलों में लाली दोड़ गई और माथे पर नन्हीं-नन्हीं पसीने की बूँदे भलक आईं। मैं भी हँसने लगा। इसके बाद चाय पीकर श्यामा से विदा ले मैं घर लौट आया।

मैं अपने कमरे में बैठा कुछ लिख रहा था। इतने में श्यामा ने बाहर से ही आवाज़ दी “माँ।” मैं जल्दी से बाहर आकर वाला “माँ तो आज आठ दिन हुए गङ्गा स्नान को गई है।”

श्यामा कुछ खिन्न सी होकर, लौटने लगी, तो मैंने कहा, “क्या मेरे पास बैठने में कुछ आपत्ति है ?” मेरा प्रश्न सुनकर श्यामा कुछ मुसकुराई फिर मृदु स्वर में बोली, “अच्छा आप कहते हैं, तो बैठ जाऊँगी; लेकिन इस शर्त पर कि आप मुझे पहुँचाने चलेँगे।”

मैंने हँसते हुए कहा, “क्यों नहीं। तुम्हारी आज्ञा ही मेरे लिये बस है। शर्त की कौन सी बात है ?”

श्यामा को पहुँचाने गया, तो देखा कि उसके मेज पर एक वन्द लिफाफा पड़ा है। दृष्टि पड़ते ही श्यामा ने उसे उठा लिया और खोलकर पढ़ने लगी।

मैंने पूछा, “क्यों किसका पत्र है श्यामा ?”

श्यामा किन्चित् मुसकुराकर बोली, “आप मुझे पहुँचा देंगे ?”

“क्या ‘उन्होंने’ बुलाया है ?”



“हॉ” कहकर वह चुप हो गई। मैं भी स्वीकृति देकर घर चलो आया और वह अपने जाने की तैयारी करने लगी।

X X X X

श्यामा को पहुँचा कर मैं लौट आया। माँ भी गङ्गा स्नान करके आ गई थी।

माँ को एक दिन एकाएक ज्वर हो आया। बूढ़ी तो थी ही; इसलिये उसकी अवस्था धीरे-धीरे गिर चली। मैं बहुत घबड़ाया और डाक्टर को बुला लाया। उन्होंने देखा तो उदासीन भाव से बोले, “दशा अच्छी नहीं है। आज का दिन काटना मुश्किल है।”

दवा बताकर वे चले गये और मैं अप्रतिभ-सा होकर माँ की सुश्रूषा करने लगा। ज्यों-ज्यों दिन बीतता गया, माँ की हालत खराब होती गई। अन्त में महायात्रा का समय आ ही पहुँचा। सूर्य भगवान अस्ताचल की ओर गए। दिन डूब गया और साथ ही माँ का जीवन-दीप भी बुझ गया।

माँ को मरे एक माह से ऊपर हो गया। इस बीच मैं कुछ अस्वस्थ-सा रहने लगा। घर में बैठे-बैठे तबियत ऊब गई। कभी नदी के किनारे कभी जङ्गल में इसी प्रकार मेरे जीवन के दिन व्यतीत हो रहे थे।

श्यामा की याद दिन प्रति दिन बढ़ती जाती थी। एक दिन अचानक मुझे न मालूम क्या सूझी कि मैं उसे चिट्ठी लिखने बैठ गया। समझ में ही नहीं आता था कि क्या लिखूँ। आह, अच्छा होता, यदि उसी समय धर्ती फट जाती और मैं उसमें समा जाता;

एक सौ सैंतालीस

अथवा आसमान चूर-चूर होकर मेरे सिर पर फट पड़ता ।

मैंने लिखा —

“ श्यामा,

तुम्हे क्या लिखूँ । तुम मेरे मनोभावो को जानती हो ।  
अतएव क्या मेरे ऊपर दया करोगी ? मैं तुम्हारे प्रेम का प्यासा  
हूँ । क्या प्रेम-वारि की एक—केवल एक—बूँद से मुझे सींचोगी ?  
तुम भी बराबर मुझे प्यार करती आई हो । अतः तुम्हे मेरी दशा  
मालूम ही होगी । अधिक क्या लिखूँ ? श्यामा, प्यारी श्यामा,  
मुझे निराश मत करना ।

तुम्हारी दया एवं प्रेम का भिखारी,  
सुशील ”

पत्र भेजे एक हप्ते से ज्यादा होगया, किन्तु उत्तर नहीं आया ।  
मैं अपने बरामदे मे आराम कुर्सी पर आँख बन्द किये लेटा हुआ  
अपनी उधेड़ वुन में मस्त था । सहसा डाकिये ने आवाज दी । मैं  
चौंक पड़ा और पत्र लेने के लिये लपका । दो पत्र थे, एक मेरे  
मित्र का था, दूसरा श्यामा का । कलेजा धड़कने लगा । कौपते  
हुए हाथो से पत्र खोलकर पढ़ने लगा ।

“ भाई सुशील,

तुम्हारा पत्र मिला । आह, मैं नहीं जानती थी कि तुम इतने  
नीच हो । मैं तुम्हे प्यार अवश्य करती थी, किन्तु उसी तरह जिस  
तरह एक बहन अपने भाई को । हाय, तुमने यह क्या सोचा ?  
छिः । छिः । क्या यही तुम्हारा स्नेह था ? तुम मेरे भाई थे, हो

एक सौ अड़तालीस

और सदा रहोगे। मैं इतनी गिरी हुई नहीं हूँ। क्या बहन के रूप में मैं तुम्हें कम प्यार करती थी? क्या मेरे स्नेह का तुमने यही परिणाम सोचा? हा, दुनिया कैसी है! मैं तुम्हें क्या समझती थी और तुमने मुझे क्या समझा! अब भी सँभल जाओ सुशील! मेरे बारे में ऐसा सोचना तुम्हें शोभा नहीं देता। ईश्वर तुम्हें सुबुद्धि दे।

बहन

श्यामा”

पत्र मेरे हाथ से छूट पड़ा और मैं बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा।

जब मुझे होश आया, तो सब बातें एक-एक कर याद आने लगी। पश्चात्ताप से हृदय भर आया। आह, यह मैं क्या कर बैठा! मुझे कैसा भ्रम हुआ। मैंने श्यामा को समझने में कितनी भूल की। वह कितनी सरल और विनीत थी। उसके विषय में मुझे कितना भ्रम हुआ। सोचते-सोचते मैं काँप उठा, चारों ओर से आवाज आने लगी,

‘वह तुम्हारा भ्रम था।’

मेरे हृदय ने भी धड़कते हुए इसका समर्थन किया,

‘सचमुच वह भ्रम था।’

करौल बाग

मार्च १९३१

}



माँ !





ब

ह माँ थी ।

बिछौने पर पड़ी हुई दुर्बल काया थी ।

बालिका ने मृदु स्वर से पुकारा,

माँ  
'माँ' !

वह न हिली, न डुली और न बोली ।

क्या वह माँ थी ?

बालिका चिल्लाने लगी,

'माँ ! माँ !! माँ !!!'

माँ नहीं बोली । वह चली गई ।

सभी कह उठे, 'वह चली गई ।'

बालिका न समझी 'कहाँ चली गई ।' उसे छोड़ कर माँ  
कहाँ गई !

एक सौ तिरपन

किसी ने कहा, 'गंगास्नान को गई' ।  
 कोई बोला, 'अपनी माँ के पास गई' ।  
 किसी सत्य के पुजारी ने कहा, 'न बिटिया, माँ तो गई ..  
 सदा के लिये... उस पार... अब न लौटेगी ..... ।'  
 बालिका बिलख पड़ी, 'माँ न लौटेगी ?'  
 नन्हे नन्हे हाथों से माँ का विछौना उलट पुलट कर देखा ।  
 कोना कोना ढूँढा । छोटे छोटे बाल इधर-उधर बिखर रहे थे ।  
 चंचल नेत्र छलछला पड़े । सोचा 'चली गई ।'  
 बालिका जोर से पुकार उठी,  
 'माँ ! माँ !! माँ !!!'  
 आँखों से एकसाथ कितने ही मोती बरस पड़े—माँ के लिए !  
 माँ के ही लिए..... ।

दिल्ली }  
 जनवरी १९३५ }



पिता और पुत्री





दोनो—पिता और पुत्री—दुःखी थे ।

अधिक व्यापक, अधिक करुणापूरा और  
अधिक वेदनामय था बालिका का जीवन ।

बालिका मातृहीना थी ।

पिता ने अपना दुलार, अपना आशीर्वाद, अजस्र जलधारा  
की भाँति बालिका के मस्तक पर उँडेल दिया सही—किन्तु बहुत  
दिनो बाद . . ।

X X X X

जब कन्या बड़ी हुई, तब उसे अनुभव हुआ “ जीवन में कुछ  
अभाव है ” ।

एक सौ सत्तावन

अचानक वह करुण स्वर से पुकार उठी—

“ माँ ! माँ !! ”

कोई भी न सुन सका ! किसी ने सुनने की इच्छा भी नहीं की . . . . पिता ने भी नहीं !!

बहुत खोजा, पर वह न मिली । वह अभाव जीवन में कभी पूरा न होने वाला अभाव था ।

फिर भी प्रयत्न किया . . . . . पर बाल-हृदय को शान्ति न मिली ।

वह मुर्झा गई ! सूख गई !!

पिता हाहाकार कर उठे—“ मुर्झा गई ! सूख गई !! ”

ताप कम करने के लिये वर्षा हुई जलकी ।—हाँ, जलकी !!

पर कोई न समझ सका गूढ़ कारण. पिता भी नहीं ।

पिता ने धीरे धीरे अपने हृदय का समस्त अमृत बूँद-बूँद करके कन्या को पिलाया । किन्तु बहुत दिनों का अतृप्त हृदय तृप्त न हो सका । पिता चले गये— सदा के लिये—

बालिका अधीर होकर व्याकुल स्वर से पुकार उठी—

“ पिता ! पिता !! ”

कोई भी न सुन सका ! किसी ने सुनने की इच्छा भी नहीं की !! पिता ने भी नहीं !!!

दिल्ली

२-१-३५

}

बालिका





ब

ह बराबर ईश्वर पर विश्वास रखती आई थी । अपनी याद में उसने कभी पूजा नहीं छोड़ी । वह बालिका मानो अपनी समस्त शक्ति को भगवान् मे लगा देना चाहती थी, लगाती थी । बसन्त ऋतु के सुन्दर सुनहले प्रभात में जब उसके वय की बालिकाएँ अपने-अपने घरों में सुख की नीद ले रही होती, तब वह किसी अज्ञात स्पर्श से उठ बैठती और चँगेरी उठाकर बाग में फूल तोड़ने चली जाती । अंधेरा फुट-फुट, सूना, आकाश में एक दो तारे चमकते रहते थे । वह बड़ी सावधानी से खिले २ फूल चुन लेती, भूल से यदि कभी कोई कली तोड़ डालती, तो मारे पश्चात्ताप के क्षुब्ध हो उठती । 'कली तोड़ने से पाप लगता है, ईश्वर नाराज होता है ।' ऐसा विश्वास वह करती थी । कितना सरल विश्वास था । कहीं शंका नहीं, तर्क नहीं ।

एक सौ इकसठ

घर लौटने पर वृद्धा क्रोध करती, “पगली लड़की। इतनी रात को क्यों उठ गई? ओस पड़ रही है बीमार हो जायगी।”

वह सहज स्वर से कहती, “अम्मा, पूजा के लिये देर हो जाती, और फिर मेरे देर में जाने से और भी सब फूल तोड़ने आती है। मुझे फूल ही नहीं मिलते।”

नित्य का यही नियम था। फूल तोड़ना, मूर्ति के सामने दीपक जलाना, भगवान के नाम का जप, तुलसी की पूजा, भक्ति-भाव से ‘माई मेरां रूठो बाल गोविन्दा,’ ‘आज जाऊंगा मैं बन को यशोदा मैया’ आदि गाने गाना।

वह भक्ति ऐसी थी जिसमें कहीं भी ढोंग नहीं था। वह ऐसी भ्रद्धा थी जिससे हृदय पवित्र होता था। वह ऐसा विश्वास था जिसमें तर्क नहीं होता। वह ऐसी उपासना थी जिसमें विरक्ति नहीं होती। वह ऐसी साधना थी जिसमें कष्ट नहीं। वह नित्य का अभ्यास था जो कि जीवन का एक अंग बन गया था।

बालिका बड़ी हुई विश्वास जमा ही रहा। उसे तर्क भी नहीं सुहाता था। आत्मा, परमात्मा, जीवात्मा, वह कुछ भी नहीं जानती थी।

परन्तु जीवन की धारा बदली। उसका सरल विश्वास डग-भगाया।

किसी ने कहा, “कैसी मूर्खा है। मूर्ति पूजा में क्या रखा है? पत्थर! छोड़ दे सब।”

किसी ने कहा, “कितना समय बर्बाद करती है यह लड़की।



पूजा, पूजा, किसकी पूजा ? इतने नियम धर्म किस काम आएंगे ? ”

कोई संक्षेप में बोला, “अन्धविश्वास । ”

बालिका घबड़ा गई । वह किससे पूछे ? अपने ही आप साचने लगी ‘क्या करूँ ? ’

चञ्चल मन ने कहा, “छोड़ दे । क्या रखा है ? ”

जमे विश्वास ने घबड़ा कर कहा, “हैं । क्या ? ”

चालाक मन ने छल किया, “कुछ नहीं । ईश्वर को तो मत भूल । परन्तु इस शंख-घंट मे क्या है ? चंदन-अक्षत-फूल-धूप-दीप क्यो ? भगवान तो सब जगह है । ”

सरल विश्वास ने कहा, “हाँ यह ठीक है । यही ठीक है । ”

विश्वास की जड़ हिली, पर टूटी नहीं । वय के अनुरोध से उसे बाहरी चहल पहल की ओर भी ध्यान देना पड़ा ।

उसके साथ की कई तो खूब वैभव मे विलास मे रहती हैं । हँसती हैं । खेलती है । फिर वही क्यों चुप रहे ? उसे क्या कमी है ?

मन ने उलाहना दिया, “यह तपरया किस दिन के लिए है ? यह सूखे चने क्यो चवाती हो ? ”

“हाँ, सचमुच । यह तो ठीक नहीं है । ” प्रतिध्वनि हुई ।

विश्वास ने मुँह फेर लिया—शायद परीक्षा के लिए ।

बालिका ने एक बार भय विस्मय से चारो ओर देखा । कहीं उत्साह नहीं, उमंग नहीं, कोई साथी भी नहीं ।

चमकीला जाल बिछा । बालिका मुग्ध होगई । उसकी सखी सहेलियाँ सभी तो उसी जाल मे फँसी हुई हँसती सी उसने देखीं ।

वह भी ललचा उठी। उसे नहीं मालूम हुआ कि यह जाल उसे धोखा देने के लिए है, यह हँसी दिखावा है। उसे भी धकेल दिया। उसने विरोध नहीं किया। वह तो मुग्ध थी। देखा। अरे। वह तो चूहे दानी में फँस गई, अभी बिल्ली उसे खिला-खिला कर हड़प जायगी। हे भगवान! बचाओ।

विश्वास ने आँखे लाल करके देखा,

‘अब?’

बालिका घबड़ाई। मन को धिक्कारा ‘दुष्ट।’

मन ने सकुचाकर हार मान ली।

बालिका खिन्न हो उठी। मुक्ति का द्वार खोजने लगी। अरे। कोई तो बता दे मुक्ति कैसे मिलेगी?

एक वृष्णा अवृत्त आकाशाओं का सहारा पाकर बढ़ने लगी। उसको विश्वास हुआ कि उसे कोई नहीं चाहता, कोई प्यार नहीं करता। हे परमात्मा। वह किसके सहारे जियेगी। भगवान् जो तुमको नहीं मानता, वह तो सुखी दीखता है, परन्तु जो तुम्हारी आशा में दिन बिताता है, वह क्यों दुःखी रहता है। इस प्रकार का एक मिथ्या आधारहीन विचार उसके मन में उठा।

चंचल मन फिर भड़क उठा, “ठीक तो है। यही अन्याय है।”

विश्वास ने कहा, “चुप।” पर मन तिलमिला उठा। सरासर अत्याचार है। तपस्या का कोई फल नहीं मिलता। विश्वास ने शान्ति से कहा, “धैर्य रखो।”

मृग-जल को देखकर उसने आशा की, परन्तु पास पहुँच कर देखा, आह ! वह तो छल निकला ! सरोवर में लहरो का जाल बिछा देख कर वह पकड़ने दौड़ी; पर वह जल ही निकला । उसने अपने आप को भावुकता वश फूल-सा बना लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ही झोके में उसकी पंखुड़ियाँ कुम्हला गई । खिलने से पूर्व ही । संसार को स्वर्ग बनाने की कल्पना में वह संसार का वास्तविक रूप ही भूल गई । वह अधीर होकर पुकार उठी, “अरे, कोई बतादे संसार कैसा है ? हे प्रभु, रक्षा करो..... ।”

धीरे से उसे एक उत्तर-सा मिला, “अनुभव करो । जान पाओगी । बताने कोई नहीं आता ।”

कौन सा आनन्द लाभ करने की उसकी इच्छा है, किसके— किस सुख के—लिये उसके प्राण आकुल है यह वह नहीं जान पाई । वह तो केवल यही जानती थी कि वह व्यथित है, दुःखी है, और अशान्त है । पर व्यर्थ ही नहीं । इस वेदना के अन्दर सत्य अवश्य है । अन्यथा यह वेदना उसके प्राणों को क्यों हिलाती ? क्यों उसे सर्वदा आगे बढ़ने की इच्छा रहती है ? वह क्यों अमरत्व—आत्मा के अमरत्व—का अनुभव करना चाहती है ? इसी से वह जानती है कि उसकी वेदना आधार-हीन नहीं है, उसका दुःख काल्पनिक नहीं है, उसकी अशान्ति व्यर्थ नहीं है । उसे एक विश्वास था कि एक दिन अवश्य ही उसे वह प्रकाश मिलेगा जो कि उसका मार्ग प्रकाशित करेगा । वह यह भी

जानती है कि उसका भाव साधारण नहीं। वह वैभव से सन्तुष्ट नहीं। वह तो एक दुर्लभ वस्तु चाहती है; पर जानती नहीं वह क्या वस्तु है। अरे, कोई बता दे कि वह क्या चाहती है ? वह तो अब तक बराबर चाहती आई है। पर मिली ही नहीं वह वस्तु। वह क्या करे। उस प्रकाश की एक भी किरण उसे नहीं दिखाई दी। हे प्रभु ! मार्ग दिखाओ। वह प्रार्थना करती है, रोती है। हे प्रभु ! हे दीनानाथ ! उसे यह कैसी अनोखी-सी अनुभूति होती है ? वह प्रभु कौन है ? वह दीनानाथ कौन है ? अरे ! वह किससे प्रार्थना करती है ? बताओ, कोई बताओ। वह खिन्न है, क्षुब्ध है। चीत्कार करती है, कोई मार्ग बताओ .... बताओ, वह ऊब उठी, खीझ उठी, अपने आप से, संसार से, समाज से, सभी से।

कुछ भी नहीं है। पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, भी नहीं। भला बुरा कुछ नहीं। सीधा रास्ता हमेशा कँटीला क्यो होता है ? ईश्वर भी निर्मम है। सृष्टि भी मिथ्या है। सब कुछ मिथ्या है। संसार के विषय में मिथ्या धारणा। ईश्वर पर सन्देह—जिसका कुछ आधार नहीं ऐसे सन्देह-जनक मन को लेकर वह अस्थिर हो उठी, व्यथित हो उठी ! परन्तु एक सूक्ष्म विश्वास ईश्वर पर बना रहा जो कि सदा उसकी रक्षा करता रहा। वह व्याकुल होकर कराह उठी। कहीं शान्ति का उसे मार्ग न मिला, वेदना से जर्जर होकर वह रो उठी।

हृदय से—अन्तःकरण से—निकली हुई प्रार्थना कभी व्यर्थ

नहीं जाती । बालिका ने भी उसी मार्ग का अवलम्बन किया ।  
विश्वासै हो उठा उस परम सत्य पर । उसकी शक्ति का परिचय  
मिला । बालिका कुछ शान्त हुई ।

अरे, वह तो सत्य की पुजारिन है, जन्म जन्मान्तर की ।  
उसे क्या कष्ट होगा । वह तो सदा प्रेममयी है उसे प्रेम की भिक्षा  
क्या चाहिये । दुःख-सुख तो कुछ भी नहीं । उसके समक्ष सभी  
समान हैं । उसे तो जीवन की वह ज्योति मिल गई है जो कभी  
बुझती नहीं । वह तो अपने चरम लक्ष्य को पा चुकी । अरे ।  
पा चुकी ।

नैनीताल  
मार्च १९३५

